UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180274

UNIVERSAL
LIBRARY

गृहस्थ-गीता

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

मैथिलीशरण गुप्त

श्रीप्रकाश

गृहस्थ-गीता

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

मैथिलीशरण गुप्त

श्रीप्रकाश

एवं प्रवर्तितं चक्रं
नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो
मोघं पार्थ स जीवति ॥

समर्पण

आत्मोत्सर्गकी अपूर्व प्रतिमा

मेरी दायी

अजनासी (नैयाँ) को

बाल्यावस्थाकी बहुतसी सुख दुःखकी स्मृतियोंसे

व्याप्त होकर

आदर सम्मान स्नेह सहित

समर्पित

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

विषय सूची

१	द्वितीय संस्करणकी भूमिका ...	...	छ
२	प्रथम संस्करणकी भूमिका ...	...	झ
३	सच्ची नागरिकता ...	...	१
४	नारंगीका छिलका ...	...	२१
५	हममें क्या त्रुटियाँ हैं ? ...	...	३८
६	छाता—क्या और कैसे ? ...	...	५०
७	चबा चबाकर भोजन कीजिए ...	...	५७
८	कविका पत्र ...	...	६६
९	गृहस्थ गीता (पद्य) ...	...	७०
१०	भोजन और अस्पृश्यता ...	...	९६
११	भोजन और अविश्वसनीयता ...	...	१०४
१२	भोजन और व्यवहार ...	...	१११
१३	लोटेका पानी ...	...	११९
१४	मृत्यु और आलस्य ...	...	१२६
१५	मांगे (मंगनी) की चीज़ ...	...	१३७
१६	व्यक्ति और समष्टि ...	...	१४२
१७	पुत्रीको पत्र ...	...	१६१

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

करीब डेढ़ वर्ष हुए गृहस्थ गीताके नामसे जो कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्तके कुछ पद्य और मेरे कुछ लेखोंका संग्रह प्रकाशित हुआ था, उसकी बिक्री हो जानेके कारण आज उसके दूसरे संस्करणके छापनेकी बात सामने आयी। जिस रूपमें गद्य और पद्य प्रथम संस्करणमें छपा था वह कुछ मित्रोंको पसन्द नहीं आया। कुछ अन्य मित्रोंका यह भी आग्रह था कि मेरे दो चार लेख और भी इस संग्रहमें छप जाते तो अच्छा होता। ऐसी अवस्थामें मैंने इस संस्करणमें श्री मैथिलीशरण जीके पद्य एक साथ बीचमें छापे हैं और उसके आगे पीछे अपने लेखोंको प्रकाशित किया है। पहले संस्करणमें पांच लेख थे। इस संस्करणमें आठ लेख और बढ़ाकर तेरह छापे जा रहे हैं।

जिन भावोंसे प्रेरित होकर और जिस स्थितिमें पुस्तकाकारमें ये लेख प्रकाशित किये गये थे वह प्रथम संस्करण की भूमिकामें बताया जा चुका है। जिस समय देश और समाजके सामने इतने बड़े बड़े प्रश्न उपस्थित हैं, जिस समय तीव्रसे तीव्र बुद्धि जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंको हल करनेमें लगी हुई है, उस समय मुझे प्रतिदिनके कौटुम्बिक और सामाजिक जीवनकी छोटी छोटी बातोंके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकाशित करनेमें बड़ा सङ्कोच हो

रहा है। पर मैं प्रकृत्या ऐसी बातोंको बहुत महत्व देता हूँ। बहुतसे मेरे मित्र भी मुझसे सहमत हैं। ऐसी अवस्थामें मैं इसे प्रकाशित करनेका दुस्साहस करता हूँ और यही आशा करता हूँ कि जिस उद्देश्यसे मैं ऐसा कर रहा हूँ वह सिद्ध होगा और इसके पाठकगण अपने व्यक्तिगत कर्तव्योंको समझ कर सच्चे स्वराज्यकी प्राप्तिमें उपयुक्त भाग लेंगे।

सेवाश्रम, काशी
७ जुलाई १९३९

श्रीप्रकाश

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वेस्मिन्नधुनान्यः कुलवृत्तं पालयिष्यति कः॥

प्रथम संस्करणकी भूमिका

कई वर्षोंकी बात है काशी विद्यापीठके विद्यार्थीजन होलिकोत्सव मना रहे थे। उन्होंने विनोदार्थ सभा की। कई अध्यापकों और सहपाठियोंको खिताब बांटे। मुझे उन्होंने 'आदर्श नागरिक' की उपाधि दी। मैं हँस पड़ा। विचार किया कि विद्यार्थियोंने मेरी कमजोरी खूब पकड़ी। नागरिकता ('सिटिजनशिप') की मैं बहुत चर्चा किया करता था। उसीका उचित दण्ड पाया।

पर थोड़ी देर बाद मैंने यह अनुभव किया कि मेरे भाइयोंने मेरा जितना वास्तविक सम्मान किया उससे अधिक कोई नहीं कर सकता था। मैंने तो तबसे उस क्षणको अपने जीवनका सबसे उत्तम क्षण माना है, और कई स्थानोंपर उसकी चर्चा भी की है। "सच्चा नागरिक" होनेसे बड़ा मेरा कोई आदर्श न है, न हो सकता है। यदि मेरे भाई मुझे ऐसा मानें तो मैं समझता हूँ कि मुझे अनायास और शीघ्र ही अपना आदर्श मिल गया, क्योंकि शायद ही संसारमें कोई अपना आदर्श प्राप्त कर पाता है।

कुछ दिन पीछे सन् १९३३ में श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डनने मुझे लाहौरमें अपने लोकसेवक मण्डलके वार्षिक अधिवेशनमें भाषण करनेके लिए आमन्त्रित किया। मैंने भाषणका विषय "सच्ची नागरिकता" ही रखा। टण्डनजीकी इच्छासे मैंने पीछे वह भाषण लिख डाला। "भारती"

सम्पादकने उसे अपने पत्रमें छापा। तबसे इस विषयपर कई छोटे छोटे लेख भिन्न भिन्न शीर्षक देकर लिखनेका अवसर मिला। बहुतसे लोगोंसे इस सम्बन्धमें बातचीत भी हुई। आचार्य नरेन्द्रदेवजीने एक बार उलहना भी दिया कि तुम इस विषयको इस प्रकारसे उपस्थित करते हो जिससे यह शंका होती है कि तुम्हारा विचार है कि जबतक तुम्हारी ईप्सित सच्ची नागरिकता सर्वसाधारणमें न आवेगी तबतक स्वराज्य मिल ही नहीं सकता। मेरा उनका एक प्रकारसे समझौता हुआ कि मैं इस मामलेको अब इस प्रकारसे पेश करूँ कि स्वराज्य मिलनेपर भी उसे हम सम्हाल न सकेंगे, यदि हममें सच्चे नागरिकोंके गुण न आवेंगे। मैं इतनेसे ही संतुष्ट हूँ। मैं खूब जानता हूँ कि यदि हम न भी चाहें तो भी स्वराज्य हमको मिलेगा जरूर। कोई साम्राज्य अनन्त नहीं है। यदि हम अपनी शक्तिसे स्वराज्य न पावेंगे तो साम्राज्यकी वृद्धावस्थाकी कमजोरी या निकटवर्ती देशोंकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति हमें वह दिला देगी। पर हम उसे कितने दिन रख सकेंगे यदि उसके योग्य न होंगे, इसकी अवश्य चिन्ता है। मेरी इच्छा भी उसी तरफ अपने भाइयोंका ध्यान आकर्षित करनेकी रही है और है।

आगे चलकर मैंने यह सोचा कि यदि कोई मित्र इन विचारोंको छन्दोबद्ध कर देते तो इनका अधिक प्रभाव पड़ता। लोग इन्हें याद भी कर लेते। उनकी स्मृतिमें

थे सदा उपस्थित रहते। मैं कविवर श्री मैथिलीशरणजी की शरण गया। वे कृपा कर तुरत तैयार हो गये; पर उन्हें भी उसी शङ्काने सताया जो आचार्य नरेन्द्रदेवजीको सता चुकी थी। उनका भी आश्वासन मैंने उसी प्रकार किया। अन्तमें ये सुन्दर पद्य मुझे मिले। मैं इन्हें छपाने जा ही रहा था कि श्री मैथिलीशरणजीने आग्रह किया कि तुम्हारा "भारती" वाला लेख अर्थात् लाहौर वाला भाषण भी इसके साथ छपना चाहिए। अपने काव्यके आरम्भमें ही मेरा नाम देकर उन्होंने मुझे असमञ्जसमें भी डाल दिया। उसे हटानेको वे राजी न हुए। साथमें उन्होंने मेरे अपने लेखको भी छापनेपर बार बार जोर दिया। जब एक लेख छापना ही था तो मैंने सोचा कि जितना लम्बा मेरे मित्रका पद्य है, उतना ही लम्बा मेरा गद्य भी हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं। जो उनका पद्य ही पढ़ना चाहेंगे, उनको किसी प्रकारकी अड़चन भी न होगी। नागरिकतापर जो मैंने छोटे मोटे लेख इधर लिखे हैं उनमेंसे भी कुछको प्रकाशित कर रहा हूँ जिससे पृष्ठपूर्ति हो सके। मैंने उन पत्रपत्रिकाओंका संकेत कर दिया है जिनमें मूल लेख छपे थे। मैं यही आशा कर सकता हूँ कि पाठकों और पाठिकाओंको यह 'गद्य-पद्य-संग्रह' मनोरंजक तथा उपयोगी जान पड़ेगा।

सेवाश्रम, काशी
११ नवम्बर १९३७

श्रीप्रकाश

योगस्थः कुरु कर्माणि
संगं त्वक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥

सच्ची नागरिकता

लाहौरमें लोकसेवक समितिके वार्षिकोत्सवमें किये हुए भाषणके आधारपर यह लेख लिखा गया था। 'भारती' में यह प्रकाशित हुआ था। * * *

इस लेखमें मैं थोड़ेसे सीधे-सादे प्रश्न पूछना चाहता हूँ और अपनी छोटीसी बुद्धिके मुताबिक उनका उत्तर देना चाहता हूँ। कुछ प्रश्न तो मुझे बहुत तंग करते रहते हैं। मैं अपने आपसे अकसर पूछता हूँ कि हम लोगोंके बड़ेसे बड़े प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं? हम उन्नतिके लिए इतना आयास करते हैं, परन्तु उन्नति क्यों नहीं होती? सम्भव है, पाठक इन प्रश्नोंको व्यर्थ समझें परन्तु मुझे तो ये बहुत कष्ट देते हैं, और मैं इनके उत्तरकी खोजमें सदा रहता हूँ। हमारे देशमें बड़ेसे बड़े पुरुषोंकी कभी कमी नहीं रही और न आज ही है। विविध क्षेत्रोंमें हमारे देशवासियोंने सदा

ही उच्च पद प्राप्त किये हैं और आज भी कर रहे हैं। बड़ेसे बड़े दार्शनिक, कवि और लेखक, बडेसे बड़े योद्धा, राजा और राष्ट्रनेता, बड़ेसे बड़े वैज्ञानिक, चिकित्सक और व्यापारी हमारे यहाँ बराबर होते आये हैं। किसी भी क्षेत्रमें नेताओंकी कमी नहीं रही। तिसपर भी, हमारा राष्ट्रीय-रथ दलदलमें फँसा ही हुआ है, और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकाधिक धँसता ही चला जाता है। बाहर निकलता नहीं देख पड़ता। इसका जो कारण मुझे प्रतीत होता है वह यह है कि हमारे बीच बड़े-बड़े लोग तो अवश्य रहे हैं, और हैं, पर हमारी साधारण जनता बराबर वहीं की वहीं पड़ी हुई है, उसका औसत बहुत ही गिरा हुआ है, उसके ज्ञान और उसकी चेष्टाकी सीमा बहुत ही संकुचित रही है। हम जन-साधारण अपने बीचमें बड़े-बड़े आदमियोंको देखकर सन्तुष्ट रहे हैं, उनकी पूजा-उपासना करनेमें, उनका सम्मान और प्रशंसा करनेमें हमने अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री समझी है। हमने अपनेको उन्नत करनेका

कभी यत्न नहीं किया। समाजके सङ्गठनका हमने अपनेको आवश्यक अङ्ग नहीं माना है और राष्ट्रीय-जीवनमें अपने स्थानका महत्व न समझ कर अपने नागरिक-कर्तव्यों और अधिकारोंको न समझा है और न उनके अनुसार अपने जीवनका मार्ग निर्धारित किया है। यही कारण है कि हमारा देश उन्नति नहीं कर पा रहा है। थोड़ेसे नेताओंके कार्यों-पर उन्नति निर्भर नहीं है। वास्तविक उन्नतिके लिए सर्व-साधारणके सहयोगकी आवश्यकता है। बड़े-बड़े लोग रास्ता दिखला सकते हैं, सब कुछ स्वयं कर नहीं सकते। उनकी निजकी मान-मर्यादा अवश्य उनके निजके कामसे बढ़ती है, उनका यश-गान होता है, उनका जय-जयकार होता है, परन्तु जब तक उनके आदेश और उपदेशके अनु-सार जन-साधारण नहीं चलते, तब तक यह सम्भव नहीं कि उनका जो उद्देश्य है वह सिद्ध हो सके, क्योंकि उसकी सिद्धि तो अन्य लोगोंके उनके कहनेके अनुसार चलनेपर ही अवलम्बित है, उनके कह

देने मात्रपर नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हमने अपने महा-पुरुषोंका आदर-सत्कार बहुत किया है, उनकी प्रतिमा बना-बनाकर पूजा की है, परन्तु उनके कहनेके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया। यही कारण है कि देश वहीं पड़ा हुआ है जहाँ पहले था। बड़े लोग आये, और चले गये, हमने उनका जन्म-दिवस अथवा पुण्य-तिथि मना ली, पर हम स्वयं वैसेके वैसे रह गए।

यदि हम अन्य देशोंको देखें, तो हमको मनुष्य-मनुष्यमें उतना अन्तर नहीं देख पड़ता, जितना हम अपने देशमें देखते हैं। शिक्षामें, धनमें, रहन-सहनमें, विचार-शैलीमें, हमारे देशके भिन्न-भिन्न लोगोंमें बड़ा भयङ्कर अन्तर है। यों तो सभी देशोंमें मनुष्य-मनुष्यमें अन्तर रहता ही है, पर हमारे यहाँ शिक्षित समाज और अपढ़ समाज, धनी और निर्धनमें इतना फर्क है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि ये लोग एक ही देश और कालके रहनेवाले हैं। सड़कपर राह-चलतोंको

देखनेसे ऐसा मालूम होता है मानो कई युगों और कई सभ्यताओंके प्रतिनिधि एक साथ चल रहे हों। ऐसी अवस्थामें किसी एक निश्चित मार्ग पर चलनेके लिए संघटित होना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। साथ ही साथ हमारे देशके वायु-मण्डलमें जाति-भेदका भाव इतना प्रबल है कि देश-सेवा और समाज-सेवाका कार्य भी हमने एक विशेष श्रेणीके लोगोंका कर्तव्य समझ रखा है, जिनकी प्रशंसा तो हम अवश्य करते हैं पर जिनका प्रभाव अपने प्रतिदिनके जीवनपर पड़नेकी आवश्यकताका हम अनुभव नहीं करते। सार्वजनिक कार्य हमने कुछ खास व्यक्तियोंका पेशा मान लिया है और जैसे अन्य पेशेवालोंसे हम पूछते हैं कि अमुक कार्यकी बाज़ारमें क्या हालत है, वैसे ही इनसे भी पूछते हैं कि देशके कार्यकी, स्वराजकी क्या हालत है? कभी कभी तो उसे किसीका निजी कार्य समझ कर उससे पूछते हैं—"कहो, तुम्हारे स्वराज्यका क्या हुआ?"

अब हमको अपने हृदयमें दृढ़ निश्चय करना है कि कुछ बड़े-बड़े लोगोंके देशमें पैदा हो जानेसे ही देश बड़ा नहीं हो सकता। हाँ, इनके पैदा होनेसे यह प्रमाण हमें अवश्य मिलता है कि हमारा देश अभी मर नहीं गया, उसमें उपयुक्त लोगोंको पैदा करनेकी शक्ति अभी है, और इस कारण हम आशा अवश्य कर सकते हैं कि हमारा भविष्य बिलकुल अन्धकारमय नहीं है। देशके बड़ा होनेके लिए आवश्यक है कि हमारी साधारण जनता उन्नत हो, अर्थात् हमारे छोटेसे छोटे देशवासी अपने नागरिक-अधिकारों और कर्तव्योंको समझें और तदनुसार जीवन निर्वाह करें। जहाँ तक अपने नागरिक-जीवनका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी श्रेणी अथवा जातिके भ्रममें न पड़ें। इसका सदा खयाल रखें कि देश सबका है, किसी एक व्यक्ति या समूहका नहीं, और एककी अकर्मण्यता अथवा अविवेकसे बहुत बड़ी हानि हो सकती है। देशकी रक्षा करनेका कार्य सबका है, किसी एकका नहीं,

और देश विविध अङ्गोंमें पुष्ट तभी रह सकता है जब सब लोग अपना-अपना कार्य समुचित प्रकारसे करें। थोड़ेमें हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता कार्य-कुशल नागरिकोंकी है। यह बिलकुल ग़लत ख़याल है कि जो घूम-घूम कर देश-भक्तिपर व्याख्यान दिया करता है वही देशभक्त है। उससे बड़े देश-भक्त वे हैं जो अपनाप्र तिदिनका कार्य समुचित रूपसे करते हैं और अपने कर्तव्यके स्थल को अन्ततक नहीं छोड़ते। इन्हें 'बड़े' मैं इस वास्ते कहता हूँ कि बिना अन्य लोगोंसे प्रशंसा पाये ये अपना काम करते हैं और बिना त्यागी कहलाये वास्तवमें त्याग करते हैं।

कार्य-कुशलता क्या है और कार्य-कुशल व्यक्ति कौन है, इसकी हम यहाँ पर विवेचना करलें। कार्य-कुशलताका पहला अङ्ग तो यह है कि हम अपने कार्यको समयसे निर्धारित कर उसे अच्छी तरह जानें। हम लोगोंमेंसे अधिकतर लोग कार्य उठा तो लेते हैं पर उसे अच्छी

तरह जानते नहीं, और न जाननेका यत्न ही करते हैं। जब सफलता नहीं मिलती तो अपने को दोष न देकर हम दूसरेको दोष देते हैं, अपना हृदय कलुषित करते हैं और बार बार कार्य बदलते हुए बड़े सन्तापमें जीवन व्यतीत करते हैं। छोटे-बड़े सभी कामोंमें यह देखा जाता है। साधारण तौरसे शायद यह समझा जाय कि घास छीलना या झाड़ू देना बहुत सरल काम है। सम्भव है हममेंसे बहुतसे लोग उसे हेय भी समझते हों। पर वे यदि इन कामोंको आजमानेके लिए किसी वक्त करनेकी कोशिश करें तो मालूम हो जाय कि यह कितना कठिन काम है और इसके लिए भी शिक्षाकी कितनी आवश्यकता है। हम लोगोंमेंसे अधिकतर लोग जो काम करते हैं उसकी एक-एक तफसीलपर ध्यान नहीं देते और न उसमें पूरे तौरसे योग्यता और निपुणता प्राप्त करनेका यत्न करते हैं। इसीसे हमारा काम खराब होता है, और हमारे हाथसे सब काम निकलते जानेका यही

कारण है कि दूसरे लोग उसी कामको ज्यादा अच्छी तरह करते हैं और हम स्वयं उनके कामको अपने कामसे ज्यादा पसन्द करने लगते हैं। यदि हम लोग अपने-अपने कामके एक-एक अङ्गको अच्छी तरह समझें और उसमें प्रवीण होनेका सदा खयाल रखें तो हम अपनी और अपने काम—दोनोंकी बहुत कुछ वृद्धि और उन्नति कर सकते हैं। चाहे हम भङ्गी हों, दर्ज़ी हों, धोबी हों, चाहे हम दूकानदार, क्लर्क या शिक्षक हों, चाहे हम और किसी पद या ओहदे पर हों, हम सबके लिए अपने कामको अच्छी तरहसे जानना अत्यन्त आवश्यक है। हममेंसे अधिकतर लोग उसे अच्छी तरह नहीं जानते, इसीसे हमारे सब कामोंकी इतनी हीनता और न्यूनता है। यदि हम सब अपने-अपने विविध कामोंको अच्छी तरहसे करें तो हम सबपर जो दीनता छायी रहती है वह कम हो और जो उदासीनता, लापरवाही और अविवेक हम चारो तरफ देखते हैं वह दूर हो। हम सब कार्य-

कुशल हो सकते हैं। कार्य-कुशलता छोटे और बड़ेका भेद नहीं जानती। जो कार्य-कुशल होगा वह चाहे आरम्भमें कितना ही छोटा क्यों न हो, अवश्य उन्नति करेगा और जो नहीं होगा, वह आरम्भमें चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, अवश्य गिरेगा। इस कारण कार्य-कुशलताका पहला अङ्ग है—अपने कामको समयसे निर्धारित कर उसे अच्छी तरहसे जानना।

कार्य-कुशल व्यक्ति अपने कार्यमें बहुत गर्व अनुभव करता है। उसको इस बातका गर्व होता है कि हम अमुक कार्य करते हैं और समाजके एक आवश्यक अंगकी पूर्ति करते हैं, यदि हम न हों तो समाज नष्ट हो जाय। यदि आप विचार करें तो देखेंगे कि आज जिन लोगोंका हम मान कर रहे हैं वे वास्तवमें समाजके लिए उतने जरूरी नहीं हैं जितने वे लोग जिनका आज अपमान होता है। आज समाजमें बड़े-बड़े राज्याधिकारी, बड़े-बड़े वकील, बड़े-बड़े ज़मींदार, बड़े-

बड़े व्यापारी आदिका बड़ा मान है। पर यदि ये न रहें तो समाजकी कोई हानि न हो। इनके मानका सबसे बड़ा कारण यह है कि ये स्वयं अपने पेशेका बहुत बड़ा मान करते हैं और दूसरोंको विवश होकर इनका मान करना पड़ता है। बड़े-बड़े वकील अपने पेशेको बड़ा सम्मानित कहते हैं और यह दर्शाते हैं कि हमारे बिना संसारसे न्याय उठ जायगा। बाकी हम लोग भी उनकी बात मानने लगते हैं और हर बातके लिए उनके पास दौड़ते रहते हैं। राज्याधिकारियोंका तो कहना ही क्या? वे तो 'सेवक', 'सर्वेण्ट', 'सर्विस', शब्दोंको ही बड़े अक्षरोंमें लिखते हैं। वे देशको अपने लिए मानते हैं, अपनेको देशके लिए नहीं। उनका इतना दब-दबा है कि हम सब उनसे भयभीत रहते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी अपनेको देशका आर्थिक संरक्षक समझते हैं और अपने हितोंकी रक्षा मजबूर करके राज्यसे भी कराते हैं। जिस जनताके कारण उनका वैभव है उसीका वे बिना सङ्कोच और बिना भय-

के तिरस्कार करते हैं। हम अपना निम्न पद स्वीकार करते हुए उनको बड़ा ही करके मानते हैं। बड़े-बड़े ज़मींदार अपनेको समाजका पोषक और पुरानी मान-मर्यादाका समर्थक कहते हैं। अपने अधिकारों और शासनमें ऊँचे स्थानोंके लिए भयङ्कर कोलाहल मचाये रहते हैं। लोग भी उनका आदर करते हैं। वे ही लोग जिनके परिश्रमके कारण इनका महत्व है, इनसे दबे रहते हैं और इनका बड़ा आदर और सम्मान करते हैं। पर सच्ची बात तो यह है कि यदि भोजनोपरान्त भाषण करनेवाले उच्च राज्यपदाधिकारी, मस्तिष्कका दुरुपयोग करनेवाले बड़े बड़े वकील, धन-राशि कमानेवाले बड़े-बड़े व्यापारी, और बिना परिश्रम किये अमीर बन जानेवाले बड़े-बड़े ज़मींदार कम हो जायँ तो संसारकी कोई हानि नहीं; सम्भव है लाभ ही हो। पर, ये अपने पेशेपर गर्व करते हैं, दूसरे नहीं। ये अपने कामको जानते हैं, दूसरे नहीं जानते। इनकी उन्नति हो रही है, इनकी साख

जमी हुई है। बाकी लोग दलित हैं और आत्म-सम्मानहीन होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हमारा इन लोगोंसे यह कहना है कि वे समाजके अधिक आवश्यक अङ्ग हैं। देहाती कहावतके अनुसार 'छोटे आदमीका काम बड़े आदमी बिना चल सकता है, बड़े आदमीका काम छोटे बिना नहीं चल सकता'। हम सब जो छोटे हैं उनको अपना महत्व समझना चाहिए। हम भङ्गियों, दर्जियों, धोबियों, छोटे-छोटे दूकानदारों, कुर्कों, ग्राम-शिक्षकों-को भी यह अनुभव करना चाहिए कि हम इस संसार-चक्रको चलाते रहनेमें बहुत जरूरी भाग ले रहे हैं और समाजकी तरफसे हमारा भी समुचित आदर और सम्मान होना चाहिए। जबतक भङ्गी, दर्जी, धोबी यह समझते हैं कि हम तो केवल भङ्गी, दर्जी, धोबी हैं, हमारा काम गन्दा है, हमारी जाति छोटी है—तबतक उनका भाव भी कलुषित रहेगा। पर अगर भङ्गी यह अनुभव करे कि मेरे बिना सारा संसार गंदा रहेगा, यदि धोबी यह विचार करे कि

मेरे बिना सारे संसारके कपड़े मैले-कुचैले रह जायँगे, अगर दर्जी यह जाने कि मेरे बिना सब लोग नङ्गे हो जायँगे, तो उनकी मनोवृत्ति, उनका दृष्टिकोण बदल जायगा, वे भी अपने कार्यमें गर्व अनुभव करने लगेंगे, अपना महत्व समझेंगे, अपना काम अधिक उत्तमतासे करेंगे और अपना समुचित स्थान समाजमें प्राप्त करनेका यत्न करेंगे। पहले जब हमारे समाजमें जन्मना जातिकी वास्तविक योजना थी तब सब जातियोंके लोग अपनी अपनी जातिको उचित महत्व देते थे, पर जब इन दिनों विचार संघर्षके कारण वह बन्धन शिथिल हो गया है, जब सब ही लोग सब ही पेशे करने लगे हैं, तब कितने ही लोग अपने पेशेको हीनताकी दृष्टिसे देखते हैं, दूसरे पेशेमें जानेका यत्न करते रहते हैं, जिससे वे समझते हैं कि हमारी व्यक्तिगत उन्नति होगी। ऐसे लोग किसी कामको ठीक तरह नहीं जानते, किसी काममें सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। गर्व करनेके बदले हम अपने कार्यसे शरमाते हैं,

उसे छिपानेका यत्न करते हैं और इस फिक्रमें रहते हैं कि हमारा भी समावेश उन गरोहोंमें हो जाय, जो अपनेको बड़ा मानकर दूसरोंसे भी अपना बड़प्पन मनवा लेते हैं। मेरा यह आग्रह है कि हम जो कोई भी काम करें, उसकी सामाजिक आवश्यकता महसूस करते हुए उसपर गर्व करें, अपने कामको ठीक प्रकारसे कर उसमें अपना मान समझें, उसको ख़राब करनेमें शरमाएँ। काम कोई भी ख़राब नहीं है, उसको करनेवाला ख़राब हो सकता है। अतः कार्यकुशल व्यक्तिकी दूसरी विशेषता यह है कि वह अपने कामको अच्छा और बड़ा मानता है, उसपर गर्व करता है। कार्य-कुशल धोबी अपने हाथके धुले साफ कपड़ेसे वही हर्ष और आनन्द प्राप्त करता है, जो कोई कवि अपनी कवितासे, कोई योद्धा अपनी वीरतासे, या कोई व्यापारी अपने ख़जानेसे करता है।

कार्य-कुशलताका तीसरा अङ्ग परिश्रम है। यह संसार परिश्रमका है। जो परिश्रम करनेको

तैयार नहीं है वह कुछ नहीं कर सकता। सतत परिश्रम ही हमें आगे ले जा सकता है। सुस्ती पीछे ही ढकेलती जायगी। हम लोग अपने कामसे बहुत जल्दी थक जाते हैं, परेशान होकर उसे छोड़ देते हैं, इस कारण हम उन्नति नहीं कर पाते। हमको धुन नहीं है, हमको लगन नहीं है, हम थोड़ेमें बहुत चाहते हैं, न मिलनेपर रुष्ट हो जाते हैं। इस परिश्रमकी ही कमीसे हम अपना काम ठीक तरह नहीं करते। चौबीस घंटे कुछ कम समय नहीं है। इसमेंसे अधिकका हम अपव्यय कर देते हैं। संसारके बड़े-बड़े कार्य करनेवालोंको भी चौबीस ही घंटे मिले हैं, पर वे तो इतनेमें ही इतना काम कर लेते हैं जितना हम साधारण लोग हफ्तों और महीनोंमें नहीं कर पाते। सतत परिश्रम ही प्रकृतिका नियम है। जो इस नियमका पालन नहीं करेगा वह कष्ट पावेगा। हमारा कार्य-कुशल नागरिक अपने कार्यको जाननेवाला, उस कार्यपर गर्व करनेवाला, उस कार्यको करते रहनेमें

यथासम्भव परिश्रम करनेवाला व्यक्ति है। ऐसे व्यक्तिकी हमारे समाजके प्रत्येक अंगमें कमी है। उसकी प्रत्येक अंगमें आवश्यकता है। यदि हमारी औसत जनता ऐसी कार्य-कुशल हो जाय तो हमारे तीन चौथाई मसले बातकी बातमें हल हो जायँ, देशकी दशा यकायक बदल जाय और जो ग्लानि हम चारो तरफ देख रहे हैं वह दूर हो जाय। वास्तवमें हमको अब ऐसे व्यक्तियोंकी, जो साधारणतः 'नेता' या 'देशभक्त' कहे जाते हैं, उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी सच्चे साधारण नागरिकों की। हमको देवी देवताओं अर्थात् महापुरुषों और महती स्त्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो साधारण नर नारियोंकी जरूरत है जो देशके विविध अंगोंको अपने श्रमसे पुष्ट करें और हर तरहसे देशको समुन्नत और समृद्धिशाली बनावें। हमें अपना समय दूसरोंकी व्यर्थ प्रशंसा और व्यर्थकी निन्दामें नहीं व्यतीत करना है, हमें तो अपने-अपने कामको ठीक तरह करना है।

ऐसे कार्य-कुशल व्यक्ति न स्वयं अस्पृश्य होते हैं, न किसीको अस्पृश्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वथा विश्वासपात्र होते हैं और उनकी यही कामना रहती है कि सब लोग विश्वासपात्र हों। ये बातें बहुत छोटी हैं, पर बहुत मुश्किल हैं। आदमीकी परख उसकी बड़ी-बड़ी बातोंसे उतनी नहीं होती जितनी उसकी छोटी-छोटी बातोंसे। हम छोटी-छोटी बातोंकी उपेक्षा भले ही करें, पर वेही वास्तव में आगे चलकर बड़ी हो जाती हैं। छोटा-सा छेद बड़ेसे बड़े जहाज़को डुबा देता है, छोटी-सी फुंसी बड़ेसे बड़े पहलवानको मार डाल सकती है। छोटी-छोटी बातोंकी उपेक्षा न कीजिए, ये बड़ीसे बड़ी बातोंसे बड़ी हैं। हम लोगोंमें अस्पृश्यताका रोग घुसा हुआ है। अस्पृश्यता शब्द विशेष अर्थमें प्रयोग होने लगा है। पर यदि हम विचार कर देखें तो हमें मालूम होगा कि यह रोग सबको व्याप्त किये हुए है। हम सब ही एक दूसरेके प्रति अस्पृश्य हैं। देशके कितने ही प्रांतोंमें छूआछूतका रोग इतना

व्याप्त है कि कोई भी किसी दूसरेको छू नहीं सकता, उसका छुआ भोजन नहीं कर सकता। एक ही घरके प्राणियोंमें भी यह व्यवहार पाया जाता है। पर यह अस्पृश्यता केवल भोजन अथवा विवाहके ही क्षेत्रमें सीमाबद्ध नहीं है। यह हर जगह देख पड़ती है, जिसके कारण सब लोग सबसे पृथक् हो गये हैं, परस्परके राग-द्वेषकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है, प्रत्येक व्यक्ति सभीको छोटे-बड़ेकी तराजूमें तौला करता है और दूसरोंको नीचा दिखानेके यत्न-में रहता है। कार्य-कुशल व्यक्ति सबको सम दृष्टि-से देखता है। वह सबका और सबके कामका आदर करता है, और आशा करता है कि उसकी तरफ भी लोगोंका वही भाव रहेगा जो उसका उनकी तरफ है। दूसरोंकी उतनी ही आव-श्यकता अनुभव करता है जितनी अपनी। समदृष्टि ही अस्पृश्यता निवारणका सर्वोत्तम साधन है, समताका भाव ही वह चमत्कार है जो इस रोगको हमारे समाजसे निकाल सकता है। कार्य-

कुशल व्यक्ति बिना शोर मचाये, बिना अपनी प्रशंसा गाये, कष्टमें पड़े लोगोंका सहायक होता है, प्रयत्न-शील लोगोंकी आपत्तियोंका निवारण करता है। उसको स्पृश्यता-अस्पृश्यताके भाव तंग नहीं करते। मनुष्य उसे अस्पृश्य मानता है जिसके प्रति किसी कारणसे उसके हृदयमें निरादरका भाव है। अस्पृश्यता अपमान सूचक है। हमलोग अपने को ही सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, धर्म-धुरन्धर समझते हैं। दूसरोंको अपनेसे छोटा मानते हैं।

प्रकृतिका अनिवार्य नियम है कि जिसको आप जैसा समझते हैं वह आपको भी वैसा ही समझता है, यद्यपि आप इसे न जानते हों, या आपको जानकर आश्चर्य और क्रोध आवे। जिसको आप छोटा समझते हैं वह आपको भी वैसा ही समझता है। नागरिकके कर्त्तव्यों और अधिकारोंका ज्ञान अस्पृश्यतारूपी कलंक हममेंसे निकाल देगा और सच्चा भातृ-भाव हमारे बीचमें फैलायेगा। वह हमको बतलायेगा कि जो बात अपनेको बुरी लगती है वही दूसरेको भी

बुरी लगती है। वह हमें विवश करेगा कि जैसा व्यवहार हम दूसरोंसे चाहते हैं वैसा ही व्यवहार हम दूसरोंके साथ करें। सब चीजें चाहती हैं कि हमारे साथ सद्व्यवहार किया जाय, चाहे वे जड़ हों चाहे चेतन। दुर्व्यवहार करनेपर सभी वस्तुएँ अपना बदला लेंगी। यदि भाई, नौकर, पड़ोसी आदि चेतन जीवोंसे आप दुर्व्यवहार करते हैं तो वे अपना बदला लेते ही हैं। अचेतन वस्तुएँ भी ऐसा ही करती हैं। जूतेके साथ दुर्व्यवहार कीजिएगा, उसे साफ नहीं रखिएगा, तो वह काट लेगा। छातेकी फिकर न कीजिएगा, उससे लापरवाहीके साथ पेश आइएगा, तो समयपर आप उसकी कमानी टूटी और कपड़ा फटा, अर्थात् उसे बेकार पाइएगा। यदि सुईकी फिकर न रखिएगा तो बेवक्त वह आपके शरीरमें चुभकर अपने अस्तित्वका प्रमाण आपको देगी। कार्य-कुशल पुरुष सबके साथ सदा अच्छा और उचित व्यवहार करता है, इस कारण वह अपनी सब वस्तुएँ सब समय ठीक प्रकारसे ठीक

स्थानपर पाता है और सब चीजें उसकी सेवा करती हैं। उसका घर गंदा नहीं रहता। उसके कपड़े मैले नहीं रहते, वह सदा चिड़चिड़ाया हुआ, घबराया हुआ, दूसरोंपर अपना दोष लगाता हुआ परेशान नहीं पाया जाता। उसका शरीर, उसकी आत्मा, उसका मस्तिष्क, सब स्वस्थ, स्थिर और प्रसन्न रहते हैं। इसीकी सबको कामना है और यह कार्य-कुशलतासे ही मिलती है।

परस्पर अस्पृश्य होनेके साथ ही साथ हम लोग परस्पर विश्वास भी नहीं करते अर्थात् हम लोग छोटे-बड़े, सब छोटी बड़ी बातोंमें परस्पर विश्वासके योग्य व्यवहार नहीं करते। हम कुछ जान बूझकर मिथ्या आचरण नहीं करना चाहते, पर हमारा ऐसा अभ्यास हो गया है कि बिना विचार के हमने अपनेको अविश्वास्य कर दिया है। प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है कि वह आशा रखे कि उसके प्रति जो समुचित कर्त्तव्य दूसरोंका है वे उसका पालन करेंगे। जब हम सड़कपर चलते हैं तो हमें

इसका अधिकार है कि हमको समुचित सुविधा अन्य सब चलनेवालोंसे मिले । पर हमको सदा यह भय लगा रहता है कि हमपर कोई अपने मकानके ऊपरसे कूड़ा फेंक देगा; कोई केलेका छिलका इस तरहसे फेंकेगा कि हम उसपरसे फिसलकर गिर जायँगे; कोई साहब आगेसे छाता इस तरहसे कन्धेपर रखकर चलते होंगे कि हमारी आँखोंमें उसकी नोक चुभ जायगी । ऐसा ही भय हमसे अन्य भाइयोंको भी रहता है । मेरी तो दृढ़ भावना है कि जो केलेका छिलका सड़कपर फेंकता है या ठीक तरहसे छाता लेकर नहीं चलता, वह स्वराज्यके रास्तेमें रोड़ा अटकाता है और स्वराज्यके आनेमें देर कराता है । रेलपर चलनेवालोंका भी यही अनुभव है कि खिड़कीके बाहर न थूककर लोग डब्बेके भीतर थूकते हैं, खानेपीनेके सकोरे-पत्तल बाहर न फेंक, भीतर ही छोड़ देते हैं, जिससे दूसरे मुसाफिरोंको तकलीफ होती है । जगह रहते हुए भी रातको जो मुसाफिर गाड़ीमें आते

हैं वे व्यर्थ ही इतना शोर मचाते हैं, दरवाजा इतने जोरसे खोलते-बंद करते हैं कि दूसरोंको बेमतलब कष्ट पहुँचता है। कोई किसीको भीतर नहीं आने देता, आये हुए लोगोंको बैठने नहीं देता, स्वयं उतरते समय दरवाजा खुला छोड़ जाता है। यदि हम केवल यह छोटा सा उसूल सदा याद रखें कि हमें भी दूसरोंके साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, तो हम ऐसी भूल न करेंगे जिसके कारण हम भरोसेके योग्य नहीं रह जाते।

अपने नागरिक कर्त्तव्योंको न पालन कर हम देशकी उन्नतिमें बाधा डाल रहे हैं। इसका प्रभाव हमारे आपसके प्रतिदिनके संबंधपर भी पड़ा है। जब हम मोची, दर्जी, धोबी आदिको कोई काम देते हैं तो हमें यह विश्वास नहीं रहता है कि यह समयसे काम कर देगा, न उसे विश्वास रहता कि हम समयपर उसे दाम देंगे। इसी कारण परस्पर तकाज़े

पर तकाज़ा करते रहना पड़ता है। ऐसी दशामें समाज कैसे ठीक प्रकारसे चल सकता है। हालत यहाँ तक पहुँची है कि यदि आप किसीको भोजन का निमंत्रण दें, और उन्होंने उसे स्वीकार भी कर लिया हो, तो न आपको यह विश्वास रहता है कि वे आजाएँगे, न उन्हें यह विश्वास रहता है कि यदि जाएँगे तो भोजन भी मिल जायगा। काशीमें तो यह क़ायदा है कि शादी-विवाहके भोजकी याद निमंत्रित सज्जनोंको लोग आख़िर तक बार-बार स्वयं जाकर या दूसरोंको भेजकर दिलाया करते हैं और मेरा खुदका यह अनुभव है कि गाँव देहातमें निमंत्रण स्वीकार करनेके बाद जब समयसे पहुँच गया हूँ तब वहां खाना पकाना शुरू किया गया है। मेजबानोंको आखिर तक शंका रही कि यह आवेगा या नहीं। जब समाजकी यह दशा है, जब किसी भी कामके लिए हम किसी दूसरेपर विश्वास नहीं कर सकते—तब क्या समाजका संघटन हो सकता है, क्या समाजकी प्रगति संभव है?

यदि हम वास्तविक कार्य-कुशल व्यक्तियोंकी आवश्यकतापर ज़ोर दें, यदि हम हर श्रेणी, हर वर्ग, हर पेशे, हर उमरके लोगोंको कार्य-कुशल बनना बतावें और सिखलावें, तो हमारे देशका रूप ही दूसरा हो जाय। हमारी सभा-सोसाइटियाँ क्यों नहीं चलतीं? जोशमें लोग सदस्य हो जाते हैं, चंदा भी लिख देते हैं, पर जब चपरासी चंदा लेने जाता है तो फटकार सुनता है। चंदेके अभावसे काम बंद हो जाता है।

यदि हम अपनेसे चंद सवाल बीच-बीचमें पूछें और जो उत्तर उन सवालोंका हम दूसरोंके लिए दें उन्हें ही अपनेपर लागू करें, तो हमें सच्चे नागरिक बननेमें देर न लगे। यदि मुझसे कोई वस्तु मंगनी ले जाय तो मैं यह चाहता हूँ या नहीं कि वह वापिस मिल जाय और वैसी ही अच्छी हालतमें जिस हालतमें मैंने दी थी? यदि मुझसे किसीने कोई वादा किया है तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि वह ठीक तरहसे ठीक समयपर उसे पूरा

करे ? यदि मैं सड़कपर चलता हूँ तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि किसीके फेंके हुए केलेके छिलकेसे मैं फिसल न पड़ूँ, और यदि फिसल पड़ूँ तो कोई मेरी सहायता कर मुझे उठा दे और मेरी फिकर करे न कि मेरा उपहास ? मैं चाहता हूँ या नहीं कि यदि मेरा बच्चा कहीं रास्ता भूल गया हो तो उसे कोई मेरे घरपर पहुँचा दे और उसे इधर-उधर भटकता न छोड़ दे ? यदि मैं किसी सभामें जा रहा हूँ तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि लोग इस प्रकार बैठे हों कि मुझे भी भीतर जाकर बैठनेकी जगह हो और व्यर्थ एक तरफ भीड़ और एक तरफ कुर्सियाँ खाली न हों ? यदि किसीके घर मेरा निमंत्रण है तो मैं चाहता हूँ या नहीं कि मेरे पहले पहुँचनेवाले लोगोंने जूता इस तरह उतारा हो कि मुझे भी अपने जूतोंको रखनेकी जगह मिल जाय ? थोड़ेमें, यदि हम सदा यह याद रखें कि जो हम दूसरोंसे अपने लिए चाहते हैं कि उनसे हमें आराम और आसाइश मिले, वही दूसरे हमसे चाहते हैं

जिससे उन्हें भी आराम और आसाइश मिले और यदि हम उसीके अनुसार कार्य करें, तो हम सच्चे और अच्छे नागरिक फौरन बन सकते हैं, और चाहे हम कितने ही छोटे आदमी क्यों न हों, हम भी काफी हिस्सा देशके लिए सच्चा स्वराज्य प्राप्त करनेमें ले सकते हैं।

देशकी उन्नति इने-गिने बहुत बड़े-बड़े लोगों पर निर्भर नहीं रह सकती। देशकी उन्नति, देशकी प्रगति, देशका अभ्युदय, देशकी स्वतंत्रता साधारणसे साधारण व्यक्तियोंके अपने कर्त्तव्यों और अधिकारोंको ठीक तरह समझनेपर ही निर्भर है। देश तो व्यक्तियोंका है, व्यक्ति कुलों-कुटुंबोंमें बँधे हैं। कुटुंबोंकी हालत देखिए। क्या हम समय पर रोटी खाने पहुँच जाते हैं? क्या हमारी माताएँ और स्त्रियोंको रोटी लिये हुए घंटों रोज़ बैठे नहीं रहना पड़ता? क्या इस प्रकारसे कुलका संघटन हो सकता है? हमारा सारा व्यक्तिगत, कुलगत, समाजगत जीवन परस्परके अविश्वासके कारण नष्ट-

भ्रष्ट हो गया है। इसको सँभालना अत्यावश्यक है। इसे यदि हम नहीं सँभालते तो हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ है। चंद लोग बड़े हो सकते हैं, नाम कमा सकते हैं, प्रशंसा करा सकते हैं। पर वे देश-का उद्धार नहीं कर सकते जब तक हम जनसाधा-रण अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करते। हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओं, विद्या-लयों आदि पर जो कुछ व्यय किया जा रहा है वह सब व्यर्थ है, हम अपना जो जीवन अक्षर-ज्ञानमें व्यतीत कर रहे हैं वह सब व्यर्थ है, जब तक हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यों और अधि-कारोंकी शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षाका एकमात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपनेको अपने लिए, अपने कुटुंबके लिए, अपने समाजके लिए यथा-संभव अधिकतम उपयोगी बना सके और समाजमें अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नाग-रिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, यही अभिलाषा है, यही आकांक्षा

है कि हमारे देशमें सच्चे नागरिकों, वास्तवमें कार्य-कुशल नरनारियोंकी हर प्रकारके कार्यमें इतनी बहुतायत हो—मैं तो उस दिनकी उत्कंठासे प्रतीक्षा कर रहा हूँ—कि हम सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर, उसे निबाह सकें, उसे स्थापित रख सकें और अपने देशमें उसी प्रकारसे आत्मसम्मान-युक्त, स्वतंत्रपुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकें, जैसा अन्य देशोंमें आज भी लोग व्यतीत कर रहे हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

नारंगीका छिलका

यह लेख आरम्भमें अंगरेजीमें
'सिटिज़न'में और हिन्दीमें 'आज'-
में प्रकाशित हुआ था। * *

"मेरे दादाकी मृत्यु एक ऐसी दुर्घटनाके कारण हुई जिसका प्रतिबंध सहजमें हो सकता था। किसीने सड़कपर लापरवाहीसे नारंगीका छिलका फेंक दिया था, उसीपर फिसलकर वे गिर गये। उनका स्वास्थ्य उस समय अच्छा नहीं था। गिरनेसे बहुत बड़ा धक्का लगा और वे फिर अच्छे नहीं हुए।"—सी० एफ० एण्डरूजकी जीवनी।

नागरिकता बड़ी सरल वस्तु है अगर हम केवल इस बातको सदा याद रखें कि दूसरोंके साथ हम वैसाही आचरण करें जैसा हम आशा रखते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। साधारण तौरसे मनुष्यका यही भाव रहता है कि वह अपनी तात्कालिक सुविधा देखता है और इसकी चिन्ता

नहीं करता कि उसकी लापरवाहीका परिणाम दूसरोंके लिए क्या होगा। जब हम अपने मकान में, सड़कपर या अन्य निजी या सार्वजनिक स्थानमें जाते हैं या रेलपर सफर करते हैं तो हमारे सामने सदा अपने भाइयोंकी लापरवाहीका नतीजा देख पड़ता है जिसके कारण दूसरोंकी जान खतरेमें डाल दी जाती है। नारंगीका छिलका तो बड़ी ही निर्दोष वस्तु मालूम पड़ती है और अपने स्थानपर बड़ा सुन्दर भी होता है परन्तु वही छिलका यदि अविवेकके साथ अनुपयुक्त स्थान पर फेंक दिया जाय तो खासा भयानक हो जाता है।

अच्छा नागरिक सदा इसका विचार रखता है कि दूसरेको उसके कारण अनावश्यक असुविधा या क्षति न पहुँचे। भारतमें सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे घर सुव्यवस्थित हों। घरोंमें ही बच्चे पाले जाते हैं और वहीं उन्हें अच्छे और सच्चे नागरिक बननेकी शिक्षा दी जा सकती है। माता-पिता बाल्यावस्थामें जो छोटी छोटी पर

अत्यंत आवश्यक बातोंकी शिक्षा देते हैं वह मनमें जम जाती है और अपने जीवनका अंग हो जाती है। इसके सामने स्कूलों और कालिजोंकी शिक्षा, यहाँ तक कि आगे चलकर जीवनके कटु अनुभवों-की भी शिक्षा कोई चीज नहीं है। अगर हम अपने घरोंको देखें तो यह पाते हैं कि वहाँ सदा सभी चीजें अस्त-व्यस्त रहती हैं। सब चीजें सब जगहोंपर पड़ी हुई हैं और सभी काम सभी जगह लोग अपनी तात्कालिक सुविधाके अनुसार करते रहते हैं। इसी कारण फल और तरकारीके छिलके, कागजके टुकड़े आदि चारों तरफ बिखरे रहते हैं और झाड़ूको अपना काम किये देर नहीं होती कि सारा स्थान फिर गन्दा हो जाता है। जान बूझकर हम किसीकी हानि करना नहीं चाहते पर हमें इसका खयाल ही नहीं होता कि हम कोई अनुचित कार्य कर रहे हैं, क्योंकि हमें किसीने बतलाया ही नहीं कि क्या करना चाहिए। बच्चे, स्त्रियाँ, यहाँतक कि वयोवृद्ध पुरुष भी

घरोंको सदा अस्तव्यस्त अवस्थामें रखनेमें सहायक होते हैं।

यदि हम विचार करें तो यह कितना सहल मालूम पड़ता है कि सब काम निर्धारित स्थानोंमें किया जाय और सब वस्तुएं निर्धारित स्थानोंमें रखी जायं। हमें जब किसी चीजकी आवश्यका होती है तो वह नहीं मिलती। कारण यह कि आवश्यकताके लिये हमने उसे पहले हटाया था पर आलस्यके कारण काम हो जानेपर उसे फिर वापस अपने स्थानपर नहीं रख दिया। परिणाम यह होता है कि जब हमें उसकी फिर आवश्यकता होती है तो उसे सारे घरमें खोजना पड़ता है। मोजे, जूते, सुई, डोरा, चारो तरफ फेंके रहते हैं, और तालीके गुच्छोंकी खोज तो किसी न किसीको रोज ही करते रहना पड़ता है। घर-परकी लापरवाहीके अभ्यासके कारण बाहर भी हम लापरवाह बने रहते हैं। सड़कोंपर, स्टेशनोंपर यहाँ तक कि रेलगाड़ीके भीतर भी हम अपनी खराब

आदतोंके भयंकर नतीजे देखते हैं। छोटी उम्रकी आदत जन्मभर बनी रहती है, बड़ी उम्रमें भी वह हमें नहीं छोड़ती।

क्या हमारे पाठकोंने केले और नारंगीके छिलके चारो तरफ पड़े हुए नहीं देखे हैं? क्या ऐसा भी कभी नहीं हुआ है कि जरूरी कामसे जब वे सड़कपर चले जा रहे हों या जल्दीमें रेलपर चढ़नेके लिये प्लैटफार्मपर दौड़े हों तो इनपर फिसलकर गिर पड़े हों? अगर उनका ऐसा अनुभव है तो क्या उन्होंने स्वयं छिलके ऐसी जगहोंपर नहीं फेके हैं जहाँ फेंके नहीं जाने चाहिए थे? क्या उन्होंने सदा इसका विचार रखा है कि घरोंमें इन्हें अलग टोकरीमें रखें, सड़कोंपर इन्हें कूड़ेकी बालटियोंमें डालें और रेलमें खिड़कीके बाहर फेंकें? क्या ऐसा कभी नहीं हुआ है कि जब वे रेलपर चढ़े हों तो वहाँपर व्यर्थका कूड़ा-करकट पाकर उन्हें बड़ा क्रोध आया है और उन्होंने उन मुसाफिरोंको मन ही मन खूब कोसा हो जो उस डब्बेमें

पहले चढ़े थे और जिन चीजोंको बाहर फेंक देना चाहिए था उन्हें डब्बेमें ही छोड़कर चल दिये थे ? क्या उन्होंने खुद इसका विचार रखा कि अपने इसी प्रकारके आचरणसे आगे आनेवाले मुसाफिरोंको कोसनेका मौका न दें ? उन्होंने उस कूड़े-करकट को कम किया या स्वयं भी उसकी वृद्धिमें सहायक हुए ? पाठकगण, स्मरण रखिये, अपने अपने स्थानमें हर चीज ठीक है, अस्थानमें वही गंदगी है। हमें वही मिलेगा जिसके हम योग्य हैं, और सार्वजनिक अधिकारियोंकी तरफसे भी सफाई आदिका उन्हीं स्थानोंमें अधिक प्रबंध रखा जायगा जहाँके रहनेवाले उसपर जोर देते हैं और खुद साफ रहते हैं। जिन्हें गंदगी गंदगीही नहीं मालूम पड़ती, जो खुद साफ़ नहीं रहते, उनके यहाँ सफाई कोई नहीं करता। जैसा मैंने पहले ही कहा था, नागरिकता बड़ी छोटी और सहलसी चीज है और यदि हमें यह सदा स्मरण रहे कि छिलके, कागज आदि हमें ठीक ठीक स्थानोंपर रखना

चाहिये तो हमने नागरिक शास्त्रके प्रथम अध्यायकी अच्छी और उपयोगी शिक्षा प्राप्त कर ली है और हम अच्छे नागरिक बनने अर्थात् सच्चा और स्थायी स्वराज्य प्राप्त करनेके मार्गपर अग्रसर हो रहे हैं। वास्तवमें सच्चा नागरिक ही सच्चा देशभक्त है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

हममें क्या त्रुटियाँ हैं ?

यह लेख आरम्भमें "चार मित्रोंसे
बात चीत—देशको क्या चाहिए"
शीर्षक देकर "विशाल भारत" में
प्रकाशित हुआ था। * *

सबको ही कुछ न कुछ खब्त होता है। मुझे भी कई बातोंका खब्त है। उनमें एक यह है कि जब किसी विदेशी सज्जनसे मित्रता हो जाती है और उन्हें सहृदय पाता हूँ, साथ ही यह समझता हूँ कि हमारे देशमें बहुत दिनोंसे रहनेके कारण वे पर्याप्त अनुभव भी प्राप्त कर चुके हैं, तो मैं उनसे किसी सुअवसरपर पूछता हूँ—"आप कृपाकर यह बतलावें कि क्या कारण है कि हमारे देशमें इतने विशेष पुरुषोंके रहते हुए, इतने बड़े बड़े आंदोलनोंके होते हुए भी, देश कुछ उन्नति नहीं कर रहा है, ऐसा मालूम होता है कि हम ज्योंके त्यों पड़े हुए हैं ?" अवश्य ही हमारे मित्र इससे चकित होते हैं, उत्तर देते संकोच करते हैं और शिष्टताके

नाते क्षमा चाहते हैं । पर मैं उन्हें छोड़ता नहीं और उत्तर देनेके लिये बाध्य करता हूँ । मैं नहीं कह सकता, पर सम्भव है कि 'विशाल भारत' के विशाल-हृदय और विशाल-मस्तिष्कके पाठक विशाल विषयोंको एक क्षणके लिए छोड़कर मेरी छोटी छोटी बातें सुन लें और मेरे इन चार मित्रोंके उत्तरपर ध्यान दें । विषय संकुचित मालूम पड़ता है पर उसका परिणाम व्यापक रहा है और इसी कारण मेरी बुद्धिमें इसका बड़ा भारी महत्व है ।

मेरे पहले मित्र एक वृद्ध ईसाई पादरी हैं* । ३६ वर्षोंसे भारतमें ईसाई मतके प्रचारमें तो उतना नहीं पर देशके दरिद्र नर-नारियोंकी सामाजिक सेवामें सपत्नीक लगे रहे हैं । मेरे हृदयमें उनके लिये बड़ा आदर और प्रेम है । उनका उत्तर थोड़े में यह है—"तुम लोग अपने काममें गर्व नहीं रखते ।" विस्तारसे उन्होंने यह बतलाया कि यहाँ-पर जब कोई नौकरी चाहता है तो अति-

* पादरी श्री जे. सी. जैकसन

शयोक्तिपूर्ण शब्दोंमें वह दरख्वास्त देता है, बहुत ही 'विनय' और 'सम्मान' के साथ उसे आरम्भ करता है। अन्तमें प्रतिज्ञा करता है कि यदि स्थान मिल जायगा तो वह सदा अपने मालिककी शुभ-कामना करेगा। पर स्थान मिलते ही वह अपने काम अर्थात् अपनी जीविकाके साधनको ही खराब समझने लगता है। अन्य साथियोंसे मिलकर काम खराब करनेके लिये षड्यंत्र रचने लगता है और मालिकके नाकोदम कर डालता है। और देशोंमें भी लोग नौकरीकी दरख्वास्त देते हैं। साधारण शब्दोंमें प्रार्थनापत्र लिखते हैं, और जब स्थान मिल जाता है तो इस तरह काम करते हैं जैसे संसार-की गति उन्हींपर निर्भर करती हो और वे यदि काम छोड़ दें तो संसार डूब जाय। बात मेरे पादरी मित्रने बहुत ठीक कही। हमें अपने कामका गर्व नहीं है। दुःख तो इस बातका है कि इस मुल्ककी परम्परा में अपने कामका गर्व करनेका आदेश है। वर्ण-भेद इसी पर निर्भर करता है। एक जाति

का आदमी दूसरी जातिके आदमी द्वारा अपनी मान-मर्यादा नहीं चाहता। वह अपने जातिवालों के ही बीच अपना उपयुक्त पद और स्थान चाहता है। वह अपनी जीविकाके साधनोंका बड़ा आदर-सम्मान करता है। बढ़ई अपने औजारकी और दूकानदार अपने बहियोंकी निश्चित तिथियोंपर पूजा करता है। पर आज दासताके कारण हमारे यहाँ वर्णसंकरता आ गयी है। हम अपनी परम्परा भूल गये हैं। हम अपना काम छोड़ दूसरोंका काम उठाते हैं। एक काम छोड़ दूसरा काम लेते रहते हैं। अपनी असफलताका दोष दूसरोंपर मढ़ते हैं। स्वयं दुखी रहते हैं, दूसरोंको दुखी करते हैं। कोई काम ठीक न कर सकनेके कारण अपनेको खराब करते हैं, कामको खराब करते हैं। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यह आदेश हम भूल गये। वास्तवमें "हम अपने काममें गर्व नहीं रखते"।

दूसरे मित्र एक वृद्ध सरकारी कर्मचारी—

आई० सी० एस० के सदस्य—हैं* । ३० वर्षोंसे अधिक भारतमें गवर्मेंटी नौकरी कर हालमें पेंशन लेकर स्वदेश वापस गये हैं । न जाने कैसे मुझसे उनसे बड़ी मैत्री हो गयी । वही सवाल मैंने पेश किया । उत्तर मिला—"तुम लोग जिम्मेदारी नहीं समझते ।" विस्तारमें इसका अर्थ यह है कि व्यक्तिका समष्टिकी तरफ और एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिकी तरफ जो कर्तव्य होता है उसे हम नहीं जानते । जो काम उठाया उसे करना चाहिए, जो वादा किया उसे पूरा करना चाहिए—यह सब गुण हम भूल गये । किसीको किसीपर विश्वास नहीं रह गया है । खानेकी दावत हो तो न मेजबानको यह विश्वास कि मेहमान समयसे आवेंगे, न मेहमानको विश्वास कि समयसे जानेपर खाना मिल जायगा । न गृहस्थको विश्वास कि धोबी और दरजी वादेपर कपड़ा दे जायंगे, न धोबी और दरजीको विश्वास कि हमें समयसे दाम मिल

* श्री ई. एफ. ओपेनहाइम

जायगा। रेलगाड़ीपर चढ़नेवालोंको यह विश्वास नहीं कि पहलेसे बैठे मुसाफिर उन्हें स्थान देंगे, पहलेसे बैठनेवालोंको यह विश्वास नहीं कि नया मुसाफिर धीरेसे आकर उचित स्थान लेगा और व्यर्थका शोर न मचावेगा, न और प्रकारसे तंग करेगा। सड़कपर चलनेवालोंको यह विश्वास नहीं कि आगे चलनेवाला अपना छाता इस तरह ले चलेगा कि उसकी नोकसे मेरी आँख न फूट जायगी, या पीछे चलनेवाला मुझे व्यर्थ धक्का न देगा। किसीको किसीपर यह विश्वास नहीं कि केले और नारंगीका छिलका या सुई, पिन आदि इस तरह वह न छोड़ेगा जिससे दूसरोंको कष्ट पहुंचे, मंगनीकी चीज़ ठीक हालतमें वापस करेगा, इत्यादि, इत्यादि। हम केवल अपनी तात्कालिक सुविधा देखते हैं, सारे संसारको अपने आरामके लिये बना समझते हैं, दूसरोंके प्रति अपने कर्तव्यका अनुभव नहीं करते। इसी कारण हम सब एक दूसरेके प्रति अविश्वसनीय और अस्पृश्य हो गये हैं। हम अपना धार्मिक आदेश

भूल गये—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" वास्तवमें "हम अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते।"

तीसरा व्यक्ति एक स्त्री हैं* । कितने ही वर्षोंसे वे अपनेको भारतीय बनाकर बड़े प्रेम और श्रद्धासे, बड़ी तत्परतासे भारतकी सेवा कर रही हैं। असहयोग आंदोलनमें जेल भी जा चुकी हैं। कई कारणोंसे भारतीयोंका निकटतम अनुभव इन्हें कई कार्यक्षेत्रोंमें प्राप्त हुआ है। इनको भी मैंने घेरा। उनका उत्तर था—"तुम लोग बड़े आलसी हो।" अर्थात् हम लोगोंने श्रमका महत्व ही नहीं पहचाना है। मिहनत करना तो हमने मरभुक्खोंका काम समझ रखा है। बड़े लोगोंका काम तो केवल बैठे रहना है। हम भूल गये कि संसारमें जो बड़े हुए हैं वे सब अथक् परिश्रमी रहे हैं। जब हम परिश्रम ही न करेंगे तो हम सफलता कैसे पावेंगे। आरम्भशूर तो हम हैं, पर हममें लगन नहीं है, इसी कारण न हम अपने

* मिस स्लेड (मीरा बहेन)

रोजगारमें, न अपने गृहस्थीसम्बन्धी कार्योंमें, न सार्वजनिक क्षेत्रमें ही सफल होते हैं। रोने, पीटने, झींखनेमें जितना समय हम बिताते हैं उतना यदि काममें बिताते, तो हम देशकी और अपनी काया पलट सकते। "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः", "कर्मण्येवाधिकारस्ते" आदि आदेश हमारे शास्त्रोंमें ही रह गये। वास्तवमें "हमलोग बड़े आलसी हैं।"

चौथा व्यक्ति एक बड़ी वृद्धा स्त्री थीं* । संसार प्रसिद्ध थीं। मेरे कुलसे उनका बड़ा ही प्रेम था। मेरी पितामही-तुल्य थी। उनको भी मैंने तंग किया—"आपने तो अपने ४० वर्ष हमारे देश-की विविध सेवाओंमें लगा दिये। आपको बतलाना ही होगा कि हमारा क्या दोष है जिससे हमारी उन्नति नहीं होती।" थोड़ेमें उनका उत्तर था—"तुम लोगोंमें उदारता नहीं है।" विस्तारसे उदा-हरण दे देकर उन्होंने बतलाया कि भारतमें लोग

* श्रीमती एनी बेसंट

दूसरोंको आगे नहीं बढ़ाते । अपने ही आगे रहना चाहते हैं । गुणीजन नवयुवकोंको अपनी योग्यता दिखलानेका मौका नहीं देते । इससे उनके मरनेके बाद उनका काम ही खराब हो जाता है । वास्तवमें वृद्धाकी बातें ठीक थीं । अन्ततक पिता पुत्रको घरका काम नहीं बतलाता । कितने ही कुटुम्ब इसके कारण नष्ट हो गये । बड़े बड़े गुणी अपनी विद्या लेकर चले गये, इस कारण कितने ही वैज्ञानिक आविष्कार, अमूल्य औषधियाँ आदि लुप्त हो गयीं । पेशोंमें इतनी प्रतिद्वन्द्विता हो गयी है कि बड़ा छोटेको काम नहीं सिखलाता । सार्वजनिक जीवनमें तो इतनी वीभत्सता दीख पड़ती है कि चित्त व्याकुल हो जाता है । कितना काम बिगड़ता है, इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया जाता । "अपत्यस्यापि चापत्यं दृष्ट्वारण्यं समाचरेत्", "शिष्यादिच्छेत्पराजयम्" आदि आदेश नीतिके ग्रन्थोंमें ही सुरक्षित हैं । वर्णसंकरसे भी अधिक आश्रम-संकरने हमें व्याप्त कर लिया है । इसका कुपरिणाम

संभवतः और भी भीषण और घातक हुआ है। वास्तवमें "हममें उदारता नहीं है।"

सारांश यह कि ठीक समयसे उपयुक्त काम न उठाकर और अपने काममें गर्व न रखकर, उसके करनेमें दूसरोंके प्रति अपनी जिम्मेदारीको न अनुभवकर, अपने कामकी एक-एक तफसीलको न समझकर, उसमें दत्तचित्त न होकर, परिश्रमके साथ उसे स्वयं न कर और उदारताके साथ उसे दूसरों-को न सिखाकर हम अपना नाश कर रहे हैं। चारो मित्रोंने एक-एक अंश हमारे दोषका बतलाया, उन सबको मिलाकर मैंने ऊपर पूर्ण कर दिया। यदि और सूत्रवत् सत्य कोई जानना चाहे तो मैं कहूंगा कि हम नागरिक कर्तव्यों और अधि-कारोंको भूल गये हैं। बड़ेसे बड़े नेताके होते हुए भी हम साधारण जन उनसे कोई लाभ नहीं उठा रहे हैं। हम उनकी मूर्त्तिकी स्थापना करते हैं, उनकी जयजय पुकारते हैं, और इसीमें अपने धर्मकी इतिश्री समझ लेते हैं। हम उनके कहे अनुसार

चलते नहीं। उनके आदेशोंके अनुरूप अपने जीवन का संघटन नहीं करते। यही कारण है कि हम वहींके वहीं हैं। संसार वेगसे चला जा रहा है, हम तटस्थ हैं। सामने सब कुछ है पर हम हाथ पर हाथ रखे किंकर्तव्यविमूढ़ बने बैठे हुए हैं। हम किसी दूसरेकी खोजमें हैं जो आकर हमारा काम कर दे। दूसरा क्या कर सकता है, जब हम खुद कुछ नहीं करना चाहते। यदि हम यह खयाल रखें कि देशभक्ति केवल व्याख्यान देने में नहीं है पर ठीक तरहसे काम करनेमें है, यदि हम यह अनुभव कर सकें कि अगर हम अपना कर्तव्य ठीक प्रकार से करते हैं तो हम किसी भी देश-भक्तसे कम नहीं हैं—और इस नामसे प्रसिद्ध बहुतोंसे बड़े हैं—चाहे हमारा कार्यक्षेत्र संकुचित ही क्यों न हो, चाहे हम निरे धोबी, दरजी, भंगी, किसान, मजदूर, छोटे दूकानदार, पहरे-दार, ग्राम-शिक्षक ही क्यों न हों—तो हमारा देश एकदम जाग उठे, उसके एक-एक अंगमें

जान आ जाय । हमारे व्यक्तिगत जीवनके संघटित होते ही सारा देश और मनुष्य समाज स्वतः संघटित हो जायगा । देशको केवल उपयुक्त नागरिकोंकी आवश्यकता है, किसी दूसरे प्रकारके मनुष्य या वस्तुकी नहीं है, नहीं है, नहीं है । गीताने पुकार पुकार कर कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि ।
योगः कर्मसु कौशलम् ।
योगो भवति दुःखहा ।
तस्माद्योगी भवार्जुन ।

औरंगजेबने क्या ही ठीक कहा था—

"मर्दुमां बिसियार मगर कमयाब"

अर्थात् आदमी तो बहुत दीख पड़ते हैं मगर खोजने पर आदमी मिलते नहीं ।

छाता—क्या और कैसे ?

यह लेख आरम्भमें अंग्रेज़ीमें
'सिटिज़न'में और हिन्दीमें 'आज'-
में प्रकाशित हुआ था। * *

प्रिय पाठक, आप नाराज मालूम पड़ते हैं। यकायक पानी बरसने लगनेके कारण आप अपना छाता ढूँढ़ने गये। पहले तो छाता मुश्किलसे मिला। फिर आपने देखा कि उसकी एक कमानी टूट गयी है। वह बेकार हो गया है। इसीसे आप नाराज हो गये। मुझे इसका दुःख है। खैर, इसी छोटीसी घटनासे चलिये हम दोनों कुछ शिक्षा लें। सबक आरंभसे ही पढ़ा जाय।

भारत ऐसे देशमें छाता बड़ी आवश्यक वस्तु है। दुःखकी बात है कि दरिद्रताके कारण हमारे देशके करोड़ों नर-नारी छातेका उपयोग नहीं कर सकते, यद्यपि मेरी समझमें हर आदमी इसका अधिकारी है कि उसके पास छाता हो। यह भी दुःखका

विषय है कि जिन लोगोंके पास छाता है वे भी उसे अच्छी दशामें नहीं पाते और आवश्यकताके समय वह बेकारसा देख पड़ता है। यही हालत आपकी है। सम्भव है आप पानी बन्द होते ही दूसरे छातेकी खोजमें निकलें अर्थात् नया छाता खरीदें। इसमें यदि अनुमति हो तो मैं आपकी सहायता करना चाहता हूँ।

यदि आप मेरी सलाह लें तो मैं कहूँगा कि सीधी डांड़ीका छाता आप कभी न लें। मूठ हाथी दांतकी हो या 'चेरी' की सुन्दर लकड़ी आपको लुभा रही हो, पर आप सदा मुड़ी हुई मूठका ही छाता लीजिये जिसे आप अपनी कलाईपर लटका सकें। लोहेकी डांडी या 'डबल' कमानीके फेरमें मत पड़िये। लोहेकी डांड़ी व्यर्थका बोझ है और डबल कमानीके कारण आपसे छाता ठीक बन्द नहीं होता, सदा कपड़ा लटकता रहता है। कपड़ा भी अच्छी तरह देख लीजिये। वह काफी गफ होना चाहिए नहीं तो जिस मतलबसे छाता आपने लिया उसे पूरा न कर सकियेगा।

अवश्य ही मुझे कोई अधिकार नहीं है कि बिना पूछे मैं आपको सलाह दूँ। आप गुस्ताखी माफ करें और यह न समझें कि आपकी बुद्धिका मैं अपमान कर रहा हूँ। बात साफ तो यह है कि मुझे आपसे कोई खास दिलचस्पी भी नहीं है। हाँ, मुझे आपकी बदमिजाजीकी अवश्य चिन्ता है क्योंकि उसका असर दूसरोंपर पड़ता है और वे दुखी होते हैं। इन लोगोंसे मुझे काफी दिलचस्पी है और मैं चाहता हूँ कि ये व्यर्थ आपकी बदमिजाजीके शिकार न हों, जब महज एक छातेकी परेशानीके कारण आपका मिजाज इतना गरम हो गया है। यदि मैंने कुछ अनुचित कहा हो तो क्षमा कीजिएगा।

अभी सबक खतम नहीं हुआ। मैं चाहता हूँ कि सबके साथ अच्छा बर्ताव हो। मैं नहीं चाहता कि छातेके साथ भी आपका बर्ताव बुरा हो। कृपाकर बिस्तरके बण्डलमें आप अपना छाता न डालिये, क्योंकि इससे छाता टूट जाता है। स्टेशनोंपर और रेलगाड़ियोंपर मजदूर इसे पटक

देते हैं और छातेको तकलीफ होती है। गीले छाते-को खोलकर मत रखिये। आप समझते हैं पानी हवामें उड़ जायगा। पर स्थान और समय दोनों ही इस प्रकारसे ज्यादा लगता है। साथ ही अगर हवा जोरकी चलती रही—जैसा बर्सातमें अक्सर होता है—तो छाता भी दौड़ता फिरता है। इससे उसे और दूसरोंको भी चोट लगती है। गीले छातेको बन्द कर दीवारके सहारे खड़ा कर दीजिए। पानी नीचे निथर जायगा और बातकी बातमें आप-का छाता सूख जायगा। इधर उधर छाता फेंकते न फिरिए। इससे दूसरोंको तकलीफ होती है। और तकलीफ न भी हो तो जब आपको ही आव-श्यकता होती है तब वह नहीं मिलता। इससे आपको ही तकलीफ होती है। कृपाकर उसे दूसरों के कमरोंमें न ले जाइए। आप उनसे मिलने जाते हैं छातेको मिलाने नहीं जाते। आप व्यर्थ क्यों अपने मित्रके कमरेमें अपने छातेसे जगह छेंकते हैं और उसे गन्दा और गीला बनाते हैं।

सबसे अधिक दिलचस्पी तो मुझे इस बातमें है कि आप सड़कपर अपने छातेको किस प्रकारसे ले चलते हैं। छातोंको लोग विभिन्न प्रकारसे ले चलते हैं। कुछ प्रकारोंसे तो मैं बहुत ही भयभीत रहता हूँ। कुछ लोग तो छातेको सामने चक्राकार रूपमें घूमाते चलते हैं, कुछ उसे बीचमें पकड़ जोर से बगलमें आगे पीछे झुलाते चलते हैं। इन तरीकोंसे बगलमें और आगे पीछे चलनेवालोंको अकसर चोट लग जाती है। कुछ लोग उसे अपने दोनों कंधोंपर गलेके पीछे रख दोनों हाथोंमें उसे फँसाकर चलते हैं। हाथ भी फँस जाता है, छाता तो फँसा है ही। सबसे खतरनाक मुद्रा उन लोगोंकी है जो उसे बगलमें दबाकर या एक कंधेपर रखकर इस प्रकार चलते हैं कि छातेकी नोक किसी पीछे चलनेवाले अभागेकी आंखके ठीक सीधमें रहती है। यदि आगेसे कोई मित्र आ गये—जैसे वे आही जाते हैं—और छाताधारी सज्जन यकायक अपने मित्रसे प्रेमालाप करनेको रुक गये—जो सर्वथा उचित ही

है—और पीछेवाला आदमी सचेत न हुआ—यह भी कोई असाधारण बात नहीं—तो छातेकी नोकसे पीछेवाले अभागेकी आंख तो बिना कुसूर मारी गयी—थाना, पुलिस, 'रपट' पीछे होती रहेगी।

प्रिय पाठक, मुझे विश्वास है कि आप अच्छे नागरिक होना चाहते हैं। अवश्य ही आप औरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहते हैं जैसा आप उनसे अपने प्रति चाहते हैं। मुझे विश्वास है कि मेरी उपर्युक्त बातोंमें आपको कोई अतिशयोक्ति न दिखाई देती होगी और आप खुद उन खतरोंसे अकसर बाल-बाल बचे होंगे जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की है। मुझे यह भी आशा है कि आपके कारण किसीको भी ऐसे खतरे न उठाने पड़े होंगे। तथापि मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप अपने छातेको सम्हाले रहें, केवल उसी काममें उसे लावें जिसके लिये वह बनाया गया है और उसके साथ इस प्रकार व्यवहार करें जिसमें आपके पैसे-का वह पूरा मुआवजा दे और आपका और उन

सबका जिनसे आपका या उसका साक्षात् हो, वह सहायक हो न कि बाधक ।

अन्तमें मैं आपसे इसकी माफी चाहता हूँ कि ऐसी छोटी छोटी बातोंमें मैंने आपका अमूल्य समय नष्ट किया, जब संसार बड़ी बड़ी समस्याओंके सुलझानेमें लगा हुआ है और जब मनुष्य मात्रके विचारोंमें क्रांति हो रही है । पर प्रकृत्या मेरा तो यही ख्याल है कि हम छोटेसे किस तरह काम लेते हैं, यह बात भी इतिहासकी घटनाओंके क्रमको प्रभावित कर सकती है । निःसन्देह अपने अपने स्थान और समयपर सभी वस्तुएँ प्रभावकारी होती हैं । मैं तो साफ कह देना चाहता हूँ कि मेरी समझमें छोटी छोटी बातोंके प्रति जनसाधारणका जो वास्तविक भाव होता है उसीपर राष्ट्र विशेषकी उन्नति या अवनति निर्भर करती है । उसीसे वहांके निवासियोंके चरित्रकी परख होती है और वे दूसरे देशोंको अपने नागरिक आदर्शोंका परिचय देते हैं ।

चबा चबाकर भोजन कीजिए

आरम्भमें यह लेख 'आज' में प्रकाशित हुआ था। इसीके साथ साथ 'भोजन और जीवन' शीर्षक देकर दो लेख और भी छपे थे। *

हालमें किसी जर्मन प्रोफेसरने आदेश दिया है कि सच्चे देशभक्त जर्मन लोगोंको भोजन खूब चबा चबाकर करना चाहिए। उनका विशेष उद्देश्य यह है कि इस प्रकारसे थोड़े ही भोजनमें संतोष हो जायगा और राष्ट्रभरमें प्रतिदिन बहुत बड़ी धनराशिकी बचत होगी। हमारे देशमें यह कहावत है कि 'औरतोंका नहाना और मर्दोंका खाना, कोई जाने कोई न जाने'। अवश्य ही कहावतें सामाजिक जीवनकी वास्तविकतापर ही बनती हैं। हम अपने जीवनमें उपर्युक्त कहावतको प्रतिदिन चरितार्थ करते हैं। पुरुष घंटों गंगाजीमें नहाते देखे जायंगे। स्त्रियां अंधेरेमें कहींपर चुपचाप नहाकर निकल जाती हैं। खानेमें पुरुषोंको सदा जल्दी मची रहती

है। झट खाया, झट भागे। जैसे उन्हें भोजन करनेमें लज्जा मालूम पड़ती हो। पर स्त्रियाँ बहुतही प्रसन्न चित्तसे, सब सामग्री एकत्र कर, धीरे धीरे देरतक खाती रहती हैं। हर प्रकारकी असुविधामें रहते हुए भी, यदि कोई दुर्घटना न हो जाय तो स्त्रियां पुरुषोंसे अधिक जीवन हमारे देशमें भी पाती हैं—कमसे कम ऐसा मालूम पड़ता है, क्योंकि वृद्ध पुरुषोंसे वृद्ध स्त्रियोंकी संख्या अधिक प्रतीत होती है। यदि ऐसा है तो इसका कारण उनके भोजनका प्रकार ही हो सकता है। जर्मन प्रोफेसरका कहना ठीक है कि चबा चबाकर भोजन करनेसे पैसा बचता है, कम भोजनमें काम चल जाता है क्योंकि चबाते चबाते मुंह थक जाता है। यही बात नहीं, भोजनकी इच्छा भी पूरी हो जाती है। देशमें जितना अन्नादि पदार्थ पैदा होता है वही राष्ट्रके लिये पर्याप्त होगा, बाहरसे कुछ नहीं लेना पड़ेगा, इत्यादि। साथ ही व्यक्तियोंका स्वास्थ्य भी अच्छा हो जायगा जिससे राष्ट्रीय जीवन, उत्साह, आकांक्षा,

उद्योग आदिमें बहुत अन्तर पड़ सकनेकी संभावना है। हमारे देशको इस छोटी सी घटनासे लाभ उठाना चाहिए। यह समाचार इतना व्यर्थसा समझा गया कि हिन्दी पत्रोंने उसे दिया भी नहीं। मेरी दृष्टि इत्तिफाकसे किसी अंग्रेजी पत्रमें उसपर पड़ गयी। मैंने विचार किया कि संभव है 'आज' के पाठकोंका इस ओर विशेष प्रकारसे ध्यान दिला देनेसे कुछ लाभ हो सके।

बहुत छोटी उमरसे पिताजीका* यह आदेश रहा करता है कि खूब चबा चबाकर भोजन किया करो। छोटेमें जब अक्सर उनके साथ खाना खानेका मौका पड़ता था तो ३२ बार एक एक कौरको चबाना पड़ता था। कभी कभी तो एक एक बादाम को ८०-८० बार चबाना पड़ा। वे अपनी ६९ वर्षकी अवस्थामें भी इस नियमका पालन करते हैं। यद्यपि अब वे चबाकर खानेकी वस्तुएं बहुत कम खाते हैं, पर जब खाते हैं तो उनके

* श्री भगवानूदासजी

साथ खानेवाले परेशान हो जाते हैं क्योंकि सबका भोजन समाप्त होनेपर भी उनका जारी रहता है। थोड़ा खाते हैं पर देरतक खाते हैं। हमलोग बहुत खाते हैं पर जल्दी खतम कर देते हैं। 'कोई देखे कोई न देखे' की कहावतको सत्य करनेकी ही चिन्तामें रह जाते हैं। इस उमरमें भी उनके दांत सब मौजूद हैं और साफ और मनबूत हैं। हां, भोजनसे व्यायाम करनेके कारण एक दो की नोकें घिस गयी हैं, एक दो थोड़ा टूट भी गये हैं। छोटी उमरमें ही उनके आदेशानुसार केलाग लिखित 'मैन, दी मास्टर मास्टरपीस'—'मनुष्य, (ईश्वर की) सर्वश्रेष्ठ कृति'—नामकी मोटीसी अंग्रेजीकी पुस्तक मुझे पढ़नी पड़ी थी। किशोरावस्थाकी विशेष समस्याएँ इस पुस्तकमें बड़े सुन्दर प्रकारसे बतलायी गयी हैं। शरीरकी रक्षापर बड़ा जोर दिया गया है। स्वास्थ्यके लिए अत्युत्तम उपदेश इसमें भरे हैं। सबसे अधिक जोर भोजनको चबा चबा कर खानेपर दिया गया है। मुझे स्मरण आता है

कि उसमें यह लिखा है कि सुप्रसिद्ध अंग्रेज प्रधान मन्त्री ग्लैड्स्टन, जो बहुत ही वृद्ध होकर मरे थे, स्वयं प्रत्येक कौरको ४० बार चबाकर खाते थे और अपने बालकोंसे ऐसा ही कराते थे। हमारे देशमें शारीरिक स्वास्थ्यकी तरफ बहुत ही उदासीनता है। उसके बिना हमारा सब काम नष्ट हो रहा है। पुस्तकका उद्देश्य पुस्तकमें ही है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'। शरीरकी तरफ यदि ध्यान जाता भी है तो व्यायाम आदितक ही परिमित रहता है। भोजनका महत्व, भोजनका समय, भोजनके पदार्थ, भोजनका प्रकार आदि ऐसे विषय हैं जिनपर ध्यान नहीं जाता। इनपर विचार करना कुछ अनुचित समझा जाता है। यह समझ लिया गया है कि घी-चीनी-दूध जितना कायामें पड़ जाय उतना ही अच्छा, पचे या न पचे। मेरा तो निश्चित मत है कि भोजनके प्रकारपर जीवनका प्रकार निर्भर करता है और भोजन सम्बन्धी यदि हमारे विचार शुद्ध हो जायं तो हमारा जीवन भी शुद्ध हो सकता है।

यह पूछनेपर कि ब्राह्मणकी मृत्यु होती ही क्यों है, मनुजीने अन्य कारणोंके साथ यह भी लिखा है—'अन्नदोषाच्च मृत्युः विप्रां जिघांसति।' अन्नदोष एक प्रधान कारण है जिससे ब्राह्मण भी मारा जाता है, अर्थात् हर प्रकारसे संयम, नियम बरतता हुआ योग्यसे योग्य पुरुष भी अन्नदोषसे मर ही जाता है। मुझे काशीपुरके युक्तप्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन (१९२६) की घटना याद आती है। मेरे सम्मानित मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त सभापति थे। अन्य लोगोंके साथ श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन भी विषयनिर्वाचिनी समितिमें बैठे थे। रातके ११ बज रहे थे। बड़े बड़े ओजस्वी-तेजस्वी निर्णयोंका मस्विदा बन रहा था। देशभक्ति वातावरणको प्रज्वलित करती प्रतीत हो रही थी। खाने-पीनेकी किसीको सुध-बुध न थी, न इसीकी कि जिन बेचारोंको खाना पकाने परसने आदिका काम सुपुर्द है उनकी क्या हालत होगी। पहाड़ी प्रदेशमें पौष (दिसंबर) का महीना था। अपनी अदमनीय

दुष्ट हास्य प्रकृतिसे प्रेरित होकर मैंने यह प्रस्ताव पेश किया कि सबको निश्चित समयसे भोजन करना चाहिए और कहा कि 'यदि लोग ऐसा करें तो स्वराज्य फौरन मिल सकता है, क्योंकि भोजन जब हम ठीक समयसे करेंगे तो हम अन्य सब काम भी अनिवार्य रूपसे ठीक समयसे करने लगेंगे। ३१ दिसम्बर १९२१ को जब ठीक अर्ध रात्रिको स्वराज्य आया* तो उसको लेनेके लिये कोई था ही नहीं। सब लोग देर कर आये, इससे वह चला गया·····'। आगे कुछ बोल न सका।

---

* सन् १९२१ में जब महात्मा गांधीके नेतृत्वमें प्रथम बार असहयोग आंदोलन आरम्भ हुआ तो यह कहा गया कि साल भरमें स्वराज्य आ जायगा। स्वामी श्रद्धानन्दने कहा कि मैं आंखके सामने देख रहा हूँ कि ३१ दिसम्बर को वह अवश्य आ जायगा। तबसे बहुतसे लोग व्यंगसे कांग्रेसजनोंसे पूछते रहे हैं—'कहो तुम्हारा स्वराज्य कहाँ है। ३१ दिसम्बरको आनेवाला था न'। ऐसे सब लोगोंको मेरा उत्तर यही रहा और है कि 'वह आया और चला गया। उसको लेनेको समयसे आप नहीं आये'। 'समय चूकि पुनि का पछताने'। हम कोई काम समयसे करते ही नहीं। मेरी तो यही धारणा है कि समयसे यदि हम सब काम करना सीखें तो स्वराज्य मिल जायगा।

फौरन् दृश्य देखने लायक हो गया। सभापतिजी और टण्डनजी एकदम वाक्दण्ड लेकर मुझपर टूटे। कहने लगे—'यह राजनीतिक सम्मेलन है। यहां खाने-पीनेकी व्यवस्था नहीं हो रही है।' 'हंसीमें बहेड़' होते देख मैं तो अपनी जान लेकर भागा और खाकर सोया। और लोग शायद १ बजे लौटे, न जाने क्या खाया और कब सोये। न जाने नौकरोंने उनके और उनकी देशभक्तिके सम्बन्धमें अपने मनमें क्या सोचा। मुझे इसका भी पता नहीं कि विषय निर्वाचिनी समितिके जो निर्णय हुए उनका व्यवहारिक परिणाम देशके जीवनपर क्या हुआ। पर जो बात मैंने हंसीमें की या कही उस-पर मेरा सचमुच विश्वास है। जैसा मेरी माता * सुन्दर व्यवहारधर्मकी शिक्षासे परिपूर्ण अन्य बहुत सी उपयोगी कहावतोंके साथ कहा करती हैं—'पढ़े पण्डित नहीं होता, पड़े पण्डित होता है'।

पाठकोंसे मेरा आग्रह है कि—(१) समय

*श्रीमती चमेली देवी

निर्धारित कर खाइए। देखियेगा कि आप अन्य सब काम भी समयसे करने लगेंगे। आपको अपने कार्यके ही सम्बन्धमें अपनेसे और दूसरोंको आपसे बहुत कम शिकायत रह जायगी। (२) खूब चबा चबाकर खाइए। देखिएगा कि आपकी धैर्यशक्ति बढ़ेगी, अन्य कामोंमें भी आप जल्दी न करेंगे और सब कार्य ठीक प्रकार सम्पन्न करेंगे। साथ ही आपका स्वास्थ्य ठीक होने लगेगा। प्रति दिनकी परेशानियों-की शिकायत बहुत कम हो जायगी। अधिक काम भी करने लगेंगे। आपका चित्त प्रसन्न रहेगा। कम भोजनमें अधिक सन्तोष और अधिक लाभ होगा। इस प्रकार अपव्यय भी बचेगा। वास्तवमें स्वाद भी अधिक आवेगा और केवल स्वादार्थ बहुत ही हानिकर पदार्थोंको जल्दी जल्दी खानेका जो मन चलता है वह न चलेगा। शरीरकी रक्षा होगी, धनकी रक्षा होगी, समाजकी पुष्टि और उन्नति आरम्भ हो जायगी।

कविका पत्र

अपनी कविता भेजते हुए
श्री मैथिलीशरण गुप्तने निम्न-
लिखित पत्र मुझे भेजा था, जो
यहाँ प्रकाशित किया जाता है ।
—श्रीप्रकाश

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
रक्षाबन्धन १९९४

भाई श्रीप्रकाशजी,

कभी कभी मेरे मित्र मुझे उलहना दिया करते हैं कि मैं कवित्व-रचनाका प्रयासी न होकर बहुधा गद्यकल्प पद्य लिखने लगता हूँ। वास्तवमें कोरी पद्य-रचनामें न तो गद्यका ही प्रवाह रह जाता है और न कवित्वका रस ही आ पाता है। फिर भी किसी बातको स्मरणीय बनानेके लिये पद्य अच्छा साधन है। कविता स्वतन्त्र वस्तु है, परन्तु पद्यका भी एक उपयोग है । साधारण नीति और कहावतोंको भी पद्यबद्ध करके लोग व्यर्थ परिश्रम नहीं करते। सुतरां जब आपने अपने उपयोगी लेखको पद्यमें परिणत कर देनेकी मुझे आज्ञा दी तब उसे मैंने अपने

ऊपर आपका स्नेहमूलक अनुग्रह ही माना। आभार तो माना ही।

मुझे खेद यही है, थोड़ेसे काममें मेरी ओरसे बहुत विलम्ब हुआ। परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रहीं। अधुना, इस सम्बन्धमें जब फिर आपको पत्र भेजना पड़ा तब मुझे बड़ी लज्जा आई। इन्हीं दिनों "इन्द्राणी" नामका एक छोटा सा नया काव्य मैं आरंभ कर रहा था। आपका पत्र पढ़कर मुझे अपने गाँवकी एक पुरानी बात याद आ गई। यहाँ कोई खेल आया था। एक किसानके लड़केने अपने बापसे कहा—"दद्दा, मैं नाटक-सा(शा)ला देख आऊँ ? चार आनेका टिकट है।" बापुरे बापने बिगड़ कर ही उत्तर दिया—"बच्चू, तुम तो बाहरकी नाटक-साला देखने जाओगे, यह घरकी नाटक साला कौन देखेगा ?" अच्छी बात है, अपनी अकल्याणी अनागरिकता ही पहले देखी जाय, "इन्द्राणी" के टिकटके लिये अभी पैसे ही कहाँ हैं ? सरगका सपना रहे, पहले इस नरकसे तो उद्धार हो !

उद्धारका मार्ग भी आपने विचित्र ही बताया है। हमारी छोटी छोटी बातें भी, जिनपर हम ध्यान ही नहीं देते, कितना महत्व रखती हैं। लेखनी बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डालती है, परन्तु जैसा आप कहते हैं, कूड़ा-कर्कट तो सचमुच झाड़ू ही झाड़ती है। रोना भी आता है और हँसी भी। रोना यही है—

'प्रथम थूकना सीखो, पीछे पान भले ही खाओ।'
इसके साथ ही मुझे हँसी आ गई—

'दया करो, निज अधरामृतको तुम पर-विष न बनाओ'
परन्तु फिर मैंने "अधरामृत" को बदल दिया—
'दया करो हा ! निज मुख-रसको तुम पर-विष न बनाओ।'
क्यों बदल दिया, इस सम्बन्धमें कुछ न कहूँगा। किन्तु विषके साथ 'अमृत' न रहनेपर भी 'रस' बना रहा।

कहीं कहीं कविजनोचित अर्थके लोभने लुभाया भी—

कुछ कर सकनेका साहस ही अपना बस नरका है।
अपना ही विश्वास नहीं तो कहाँ परात्परका है।

अपनेके साथ परका मेल है। ईश्वरतो परात्पर, परसे भी पर, है। परन्तु सरलता और निश्छलता इसीमें जान पड़ी—

कुछ कर सकनेका साहस ही अपना बस ! नरका।
अपना ही विश्वास नहीं जब, तब फिर क्या ईश्वरका ?

तथापि, देखिये, क्या विचित्र बात है। वाक्छल ही अर्थ-का साधक है !

पद्य अन्ततः पद्य ही है, गद्य नहीं। मैंने भरसक आप का भाव ले लेनेका प्रयत्न किया, प्रत्येक शब्द तो लिया भी नहीं जा सकता था और कदाचित् वह ठीक भी न होता। प्रसंगानुकूल जो बातें मैंने अपनी ओरसे कही हैं वे भी मूल अर्थके ही समर्थनमें।

फिर भी कुछ काट-छाँट या घटा-बढ़ी करके आपका काम चल जाय तो बताइये, उसे और कर दिया जाय। नहीं तो जो कहिये, किया जाय।

नागरिकसे भी गृहस्थ शब्द मुझे विशेष गौरवपूर्ण जान पड़ा। नागरिकके अर्थमें भी वह बोला जाता है। इसलिये इस पुस्तिकाका नाम उसीपर मैंने रख दिया है।

एक बात और। मैं जब पुस्तकके रूपमें कुछ लिखता हूँ तब मंगलाचरण करता हूँ। उसे आपको मान लेना होगा। वस्तुतः मंगलाचरणमें भी मैंने अपनी ओरसे कुछ नहीं कहा, विगत रामनवमीके दिन मेरे अनुज श्री सिया-रामशरणको वर्धामें जो बात लिखकर बापूने ❀ हस्ताक्षर दिये थे उसीको मैंने प्रथम पद्यकी प्रथम पंक्तिमें रख दिया है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह मुझे बहुत ही उपयुक्त जान पड़ी।

और जो आज्ञा हो ?

आपका

मैथिलीशरण

❀ महात्मा गांधी

(१)

लिया नाम तो बहुत, काम भी
करें राम का हम कुछ,
बापू ❀ ने इस एक वाक्य में
हमें दिया क्या कम कुछ।
शुभारम्भ हो क्यों न इसी से
निज गृहस्थ-गीता का,
राम नाम के भी पहले हो
उच्चारण सीता का॥

(२)

आशय है श्री श्रीप्रकाशका
पद्य मात्र ही मेरे,
उन्हीं सुधीका शिक्षामृत है
तुच्छ पात्र ही मेरे।
पात्र हिरण्मय हों या मृण्मय
अमृत वही है, आओ,
पीकर उसे प्रेम से जन-जन!
नूतन जीवन पाओ॥

❀ महात्मा गांधी

(३)

सन्तत सन्त महात्मा हमको
मार्ग दिखा जाते हैं,
समय समय पर पुरुषोत्तम भी
आप रूप आते हैं।
किन्तु जहाँ के तहाँ पड़े हम
उबर नहीं पाते हैं,
उनका कहा न सुन के उनके
गीत मात्र गाते हैं॥

(४)

महापुरुष सर्वत्र मुक्त हैं,
किन्तु बद्ध है जनता,
वे सन्नद्ध रहें तो क्या, जब
असन्नद्ध है जनता।
अनुयायी तब तक पिछड़े हैं,
जब तक नेता आगे,
जब निश्चिन्त चलें वे पीछे,
भाग्य जान लो, जागे॥

(५)

जन-समूहसे ही जनपद है,
बिरले ही जन-नायक,
गति तो जन जनकी अपनी ही
उनकी सुमति सहायक।
अपने ही हाथों हो सकता
है उद्धार तुम्हारा,
तुम परावलम्बी, औरोंपर
जब तक भार तुम्हारा॥

(६)

आदर्शोंकी पूजासे ही
पार नहीं पाओगे,
नहीं आप उनकी पद्धति पर
जब तक तुम जाओगे।
मनमें, वाणीमें आकर ही
धर्म न पूरा होगा,
किये बिना कोई भी अपना
कर्म न पूरा होगा॥

(७)

व्यष्टि-रूपमें तुम कितनी ही
वीर-धीरता धारो,
किन्तु समष्टि-रूपमें क्या हो,
यह तो तनिक विचारो।
अंग मात्र तुम जिस शरीरके
उसकी क्या मति-गति है?
सब समाजकी जब उन्नति है
तब अपनी उन्नति है॥

(८)

कुछ अवयव बढ़ जायँ देह के,
रहे न सबमें समता,
तो तुम वृद्धि कहोगे उसको
या अधिमांस विषमता?
निज शिष्टों जैसे विशिष्ट बन
उनकी ग्लानि मिटाओ,
अथवा वे उसके ऊपर हैं,
अपनी ग्लानि मिटाओ॥

(९)

रहन-सहन में, रीति-नीति में,
बल-विद्या में, धन में,
होता है सर्वत्र भुवन में
भेद सदा जन जन में।
किन्तु सभी बातों में हम सब
इतने भिन्न हुए हैं,
होने पर भी एक परस्पर
सब विच्छिन्न हुए हैं॥

(१०)

एक गोत्रियों में भी आई
घर जानी मन मानी,
वहीं भिन्न धाराएँ, पाकर
दूर दूर का पानी।
उपजातियाँ बनी, आपस में
ऊँच-नीचपन आया,
टूट गया जन-संघ, फूट से
सब कुछ हुआ पराया॥

(११)

मर कर निज निजत्व पर ही तो
हमने परता पाई,
पर परत्व का पालन करके
निजता किसमें आई ?
धनी और निर्धन दोनों हैं
जब तक हम में ऐसे,
संघ-संघटन की आशा हम
कर सकते हैं कैसे ?

(१२)

उधर अनर्जित धन ने तुमको
उच्छृंखल कर डाला,
इधर घोर दारिद्र्य दैत्य ने
कब का वैर निकाला।
मध्य मार्ग दिखला सकते हैं
तुमको बुद्ध तुम्हारे,
चलना किन्तु तुम्हीं को होगा,
विघ्न पार कर सारे।

(१३)

देश-समृद्धि-साधना के क्या
कुछ ही जन अधिकारी ?
क्या यह धर्म्म नहीं जन जन का
नर हो या वह नारी ?
हम सब जायँ एक सम जिसमें
सो समाज, यदि मानों,
पूछ आप अपने से ही तुम
उसकी गति-विधि जानो।

(१४)

क्यों हम पड़े आज भी हैं यों
परवश पशु-बन्धन में ?
मनुष्यत्व से वंचित जो हैं
रत निज निज रन्धन में,
देश-यज्ञ में अपनी आहुति
सबको देनी होगी,
तभी हो सकेंगे हम उसके
सच्चे शुभफल-भोगी।

(१५)

अब भी धीर-वीर जन तुममें
जन्म लिया करते हैं,
जो चरित्र-बल से विचित्र-से
काम किया करते हैं।
जननी अब भी भारत-जननी,
यही तुम्हारी आशा,
पर माई के लाल सभी हों,
उसकी यह अभिलाषा।

(१६)

निज आचार-विचार परस्पर
निज व्यवहार सँभालो,
अपने और दूसरों के प्रति
स्व-कर्त्तव्य सब पालो।
कर लेंगे क्या बड़े लोग कुछ
जहाँ अधिक छोटे हों,
उतने खरे न हों न सही हम,
प्रभु न करे, खोटे हों।

(१७)

खोटी नहीं जीविका कोई,
खरे रहें यदि गेही,
छोटे काम जिन्हें कहते हो,
बड़े वस्तुतः वे ही।
कोरी या चमार या धोबी
कौन नहीं निज अंगी?
महतों से बढ़ कर महतर हैं
जन-समाज के संगी।

(१८)

हम स्वकार्य-सम्मान करें तो
मान्य क्यों न वह होगा?
अपनी वृत्ति बिगाड़ आप ही
कब किसने सुख भोगा?
काम समयपर, दाम समयपर,
साख यही कहती है,
उभय ओर की शंका हम में
झंका सी रहती है।

(१९)

देश-दशा जानी जाती है
जन साधारण से ही,
चलते फिरते चित्र आप हैं
निज समाज के वे ही।
तभी बड़ा होगा स्वदेश, जब
छोटे से छोटा जन
ग्रामों में रह कर भी भोगे
निर्भय नागर-जीवन।

(२०)

जाति-पाँति के विना एक सी
सद्गृहस्थता सब की,
सुविधा, शुचिता, सुरुचि सीलता
तथा स्वस्थता सब की।
किन्तु एक की अकर्मण्यता
सौ का हित हरती है,
एक छूत घुस कर घर भर को
हा ! अछूत करती है।

(२१)

वह महान, जो मार्ग दिखावे
सब को ऊँचे चढ़ कर,
कीर्ति छोड़ कर्त्तव्य करे जो
वह उससे भी बढ़ कर।
जो नीरव निज धरम निबाहे
वही परम त्यागी है,
रहे अजाना सबका, प्रभु का
माना बड़भागी है।

(२२)

कार्य विना जाने हम उसको
शिर पर ले लेते हैं,
अपनी भूल किन्तु औरों के
मत्थे मढ़ देते हैं।
घास छीलना भी क्या सीखे
विना कभी आता है,
किसी कर्म का कौशल ही तो
योग कहा जाता है।

(२३)

कुछको कठिन जानकर, कुछको
मलिन मान कर छोड़ा,
धीरे धीरे सब कामों से
हमने हाथ सिकोड़ा।
हुआ यही परिणाम, अकर्मा
हुए और हम हारे,
रक्षायुध तक विदेशियों के
करगत हुए हमारे।

(२४)

सेवक स्वामी बन बैठे हैं,
यह गति आज हमारी,
चाकर-चपरासी भी चाहे,
लूटे लाज हमारी!
दोषी या निर्दोष क्यों न हों,
हम असहाय अचीते,
ग्रामयुक्त भी बनचर से, जो
भाग बचें सो जीते।

(२५)

व्यर्थ दूसरे की झंझट में
पड़ कर हम क्यों उलझें
कैसे संकट से अनाथ सम
निरपराध फिर सुलझें !
न्यायोचित-सहायता-वंचित
रहे न अपराधी भी,
शेष नागरिकता यदि हम में
है यथार्थ आधी भी।

(२६)

शासन यहाँ विदेशी, उसको
है स्वदेश की चिन्ता,
निज व्यवसाय, आय, बल, वैभव
भाव, वेश की चिन्ता।
ऐसे में जो बने स्वयं ही
करो, समय पहचानो,
यदि निजवृद्धि-विधान नहीं तो
हुए बिना ही मानो।

(२७)

कुछ कर सकने का साहस ही
अपना बस है नर का,
जब विश्वास नहीं अपना ही,
तब फिर क्या ईश्वर का?
अपने ही हाथों अपने को
हमने हाय! हराया,
कौन कार्य छोटा या खोटा
अपना और पराया।

(२८)

जब तक गृह-मालिन्य, देश भी
मलिन रहेगा तब तक
इतना अपरिष्कार हमारा
मार्ग सहेगा कब तक?
शिष्ट सबल जन ही स्वराज्य के
होते हैं अधिकारी,
यद्यपि स्वयं स्वराज्य बिना ही
मति-गति नष्ट हमारी।

(२९)

मार मक्खियाँ ही पाते हम,
तो भी सुख से जीते,
पाल मक्खियाँ ही पाते हम
तो भी मृदु मधु पीते!
प्रलयंकर विज्ञान आज भी
मच्छर मार न पाया,
चाहें तो यह गर्व करें हम,
हमने उन्हें जिलाया!

(३०)

असि लो और लेखनी भी लो
विजयी हो, यश पाओ,
एक मार्जनी भी होती है,
उसको भी न भुलाओ।
बाहर जो हो, घर तो होगा
स्वच्छ उसीके द्वारा
झाड़ दलिद्दर दूर नित्य वह
करती रहे तुम्हारा!

(३१)

पथ में कूड़ा फेंकें तो फिर
घर ही हम क्यों झाड़ें,
अपना और दूसरों का क्यों
आवागमन बिगाड़ें।
अपना पाप पड़ोसी के सिर
जब डाला जाता है
लेकर उसका रोग-दोष वह
वहीं लौट आता है।

(३२)

फल चक्खो, पर उनके छिलके
फेंक न दो तुम यों ही,
फिसल गिरोगे तुम्हीं मार्ग में
पैर पड़ेगा ज्यों ही।
प्रथम थूकना सीखो, पीछे
पान भले ही खाओ,
दयाकरो हा! निजमुख-रसको
तुम पर-विष न बनाओ

(३३)

खिड़की रहते हुए यान में
भीतर ही क्यों थू थू!
मैं मैं जहाँ चलाओगे तुम
वहीं चलेगी तू तू।
स्वयं घृणा कर हम औरों से
प्रेम नहीं पा सकते,
सहयात्री का योग भंग कर
क्षेम नहीं पा सकते।

(३४)

मार्ग सभी के लिए एक-सा,
आँख खोल कर चलिए,
नहीं आप ही, लिये और भी
छाता-छड़ी, सँभलिए।
बाधा नहीं चाहते हैं तो
बनिए स्वयं न बाधक,
सज्जनता तो यही कहेगी—
रहिए सब के साधक।

(३५)

अपने लिए स्थान चाहें तो
औरों को भी दें हम,
अपना खोने को औरों का
आसन छेंक न लें हम।
आगे जाना चाहें हम कुछ
लेने, पीछे आकर,
तो विस्मय क्या भय है निश्चय
गिरें न धक्के खाकर।

(३६)

निज मनुष्यता यदि औरों का
स्खलन न आप सँभाले,
तो अपने गिरने पर उनकी
हँसी हमें क्यों साले?
यदि हम चाहें, देर न कर दें
आमन्त्रित आने में,
तो हम व्यर्थ विलम्ब करें क्यों
आप कहीं जाने में?

(३७)

मँगनी गई वस्तु फिर आवे,
अपनी ही या सबकी?
तो उसके मिलने की बाधा
मिटे परस्पर कब की।
आपस में सच्चे हों हम तो
टाले जायँ न टालें,
हम भी पालें, यदि हम चाहें
वचन दूसरे पालें।

(३८)

हाटों-बाटों में, घाटों पर
हिल मिल मोद मनाओ,
घूमो, घूरो नहीं, निहारो,
सहज विनोद मनाओ।
निर्मल जल में तरो, मग्न हो
छींटे किन्तु न छोड़ो,
रसरखकर रस लो मनुष्य-सम
मर्यादा मत तोड़ो।

(३९)

नहीं नागरिकता आ पाई
व्यसन आ गये उसके,
रसन न आया असन आ गये,
बसन आ गये उसके।
गई साथ ही सहज सरलता
शुद्ध ग्राम-जीवन की,
हुई और भी हानि हमारी
तन की, मन की, धन की।

(४०)

खो बैठे निज समय, इसी से
हम अकाल-भागी हैं,
न तो यथार्थ विरागी हैं हम
और न अनुरागी हैं।
हम बुभुक्षु मिथ्या मुमुक्षु हैं,
जीते हैं—मरते हैं,
काल-भ्रष्ट आप, औरों का
समय नष्ट करते हैं।

(४१)

नियत समय है कौन तुमारा,
कौन नियम, क्या क्रम है ?
किसके लिए विचारो तो तुम
यह प्रयास, यह श्रम है ?
भोजन तक की तुम्हें नहीं सुध,
तुम अच्छे अभ्यासी,
मरे, प्रतीक्षा करे राँध कर
गृहिणी भूखी-प्यासी।

(४२)

समय कहाँ जा सकता है फिर,
उसे बाँध लो आहा!
बिना प्रतीक्षा के आ जावे
योग आप मन-चाहा।
तुम्हें न औरों को ही कोई
अड़बड़ या हड़बड़ हो
काम और विश्राम सभी हो,
कभी न कुछ गड़बड़ हो।

(४३)

आलस है, विश्राम नहीं वह
श्रम के बिना मिले जा,
निज गौरव चाहो तो झेलो
तुमसे भार झिले जो।
मनोयोग पूर्वक जितना भी
तन का स्वेद बहेगा,
वह सौगुना सुफल रस देगा,
फिर क्या खेद रहेगा?

(४४)

निरुत्साह से साहस शुभ है,
जीवन एक समर है,
भव भंगुर है, रहे, किन्तु यह
आत्मा आप अमर है।
बिगड़ गया यदि यही लोक तो
क्या परलोक बनेगा?
कहाँ जायँगे नारायण भी
जब नरलोक बनेगा।

(४५)

आपस के सन्देह मिटाओ,
स्नेह शुद्ध हो जिससे,
यदि हममें विश्वास रहे तो
त्रास किसे फिर किससे?
दोष हमारा ही, यदि दुख में
मिले हमें न सँघाती,
जीवन में आपत्ति सभी पर
एक बार है आती।

(४६)

एकाकी कृतार्थ होकर भी
तुम कृतकृत्य नहीं हो,
निज कुल, जाति, समाज, देशसे
क्या तुम अलग कहीं हो।
जो तुमने समझा-सीखा है
हम भी समझें-सीखें,
पुरजन-परिजन सभी तुम्हारे
तुम जैसे ही दीखें।

(४७)

मरण अकेले हो सकता है,
जीवन नहीं कभी भी
यदि विगतायु नहीं हैं हम तो
आशा हमें अभी भी।
होता है अशौच ही दर्शित
अलग ठौर चुनने में,
उत्सव तो अपनी कहने में,
औरों की सुनने में।

(४८)

जो पड़ोस में से ही सुखको
मना नहीं पावेगा,
सोचो उसका दुःख मनाने
कौन कहाँ आवेगा?
औरों को भी वह सुविधा दो
जो औरों से चाहो,
यही नागरिकता—गृहस्थता—
सबसे निभौ, निबाहो।

(४९)

क्या स्वराज्य क्या स्वर्ग तुम्हीं सब
पाने के अधिकारी,
किन्तु उसे रख भोग सकोतुम,
तब है बात तुम्हारी।
आपस के बन्धन में ही तो
सबका छुटकारा है,
विलग हुआ सो भूला-भटका
थका और हारा है।

(५०)

हम सब एक पेड़ के पंछी,
न हों एक कोटर के,
खेलें-खावें हेल-मेल से,
राजा अपने घर के।
फूले-फले हमारा तरुवर,
उच्चस्थिति में हम हों,
सरकें नीचे नीच सरीसृप,
विषधर क्यों न विषम हों।

(५१)

जहाँ अनेक एक रहते हैं,
एक अनेक वहाँ है,
सबका सुख जब हुआ हमारा
फिर निज दुःख कहाँ है।
आये नहीं अमृत पीकर हम,
तो विष भी न पियेंगे,
हम सजीव की भाँति मरेंगे
मरे मरे न जियेंगे।

(५२)

वही नागरिक जन है सच्चा,
रहे ग्राममें चाहे,
जिसपर प्रत्यय किया जा सके,
जो निज वचन निबाहे।
जो स्वकर्म में कौशल-रस ले,
कर्म कृतार्थ उसीसे,
जिसे कनक-सा कोई कस ले,
कर्म धृतार्थ उसीसे।

भोजन और अस्पृश्यता।

"भोजन और जीवन" शीर्षक
देकर जो तीन लेखोंकी लेखमाला
आरंभमें आजमें प्रकाशित हुई थी
उसका यह प्रथम लेख है। * *

सबने ही इस बातको देखा होगा, और देखकर आश्चर्य किया होगा, कि भिन्न भिन्न लोगोंके व्यवहारमें अन्तर होता है, शिष्टाचारके सम्बन्धमें भी भिन्न भिन्न विचार होते हैं, और उचित अनुचितकी विवेचनामें परस्पर विरोधी मनोवृत्ति पायी जाती है। इसका क्या कारण हो सकता है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकारसे आदमी भोजन करता है, जैसा भोजनके समय उसका व्यवहार होता है, जैसा भोजनके सम्बन्धमें उसका आचार विचार होता है, वैसा ही वह सारे जीवनमें प्रदर्शित करता है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि भोजन एक प्राणीके वास्ते सबसे आवश्यक वस्तु है। उत्पन्न होते ही इसकी आवश्यकता

पड़ती है और सब वासनाओंके छूट जानेपर भी अन्ततक इसकी बनी ही रहती है। क्या आश्चर्य कि इसके सम्बन्धके अपने आचरणका प्रभाव सदा अपने जीवनके अंग अंगपर पड़ता रहे। बहुत विस्तारमें न जाकर—यद्यपि यह विषय ऐसा रोचक है कि इसके सब ही पहलुओंका अनुसन्धान करनेकी इच्छा होती है और नये नये पहलू रोज देख पड़ने लगते हैं—यहांपर मैं थोड़ी-सी मोटी मोटी बातें भोजन सम्बन्धी अपने समाजके आचार विचारपर देकर यह दिखलानेका प्रयत्न करूँगा कि इसका क्या प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवनपर पड़ रहा है। स्पष्ट ही मेरा उद्देश्य यह है कि इन बातोंपर अपने पाठकोंका ध्यान आकर्षित कर और उनपर इनके महत्वको दर्शानेका प्रयत्न कर, अप्रत्यक्ष रूपसे उनसे प्रार्थना करूं कि इस सम्बन्धमें समुचित सुधार करें एवं राष्ट्रको सुदृढ़, सुसम्पन्न, सुसंघटित, सुसज्जित और सुसंस्कृत बनानेमें सहायक हों। मेरी समझमें हमारे देशके प्रधान दो दोष

हैं, जिनके कारण सब कुछ साधन होते हुए भी, हम उन्नति नहीं कर पा रहे हैं, अर्थात् अस्पृश्यता और अविश्वसनीयता। मैं यह दिखलानेका प्रयत्न करना चाहता हूँ कि हमारे भोजन सम्बन्धी आचार और विचारके कारण ये हैं और यदि यहां हम सुधार कर सकें तो सब जगह सुधार बातकी बातमें हो जायगा।

बहुतसे लोगोंने हिन्दू और हिन्दूधर्मकी व्याख्या और परिभाषा करनेका प्रयत्न किया है। एक बार प्रयागके 'लीडर' पत्रने बहुतसे विद्वानोंकी राय मांगी थी पर सब परिभाषाओंमें कोई न कोई त्रुटि पायी जाती थी। बहुत दिनोंकी बात है, पर जहां-तक मुझे इस समय याद आता है अन्ततोगत्वा विद्वानोंकी यह राय हुई कि 'वह मनुष्य हिन्दू है जो यह न कहे कि मैं नहीं हूं।' मुझे खेद है कि मुझसे किसीने राय नहीं पूछी थी। कालिजमें पढ़ता था। 'लीडर' भी हालमें ही निकला था। मुझे कौन पूछता? पर राजनीतिक पुरुषोंके अद-

मनीय आत्मप्रदर्शनके दुर्भावसे प्रेरित होकर, बिना पूछे ही, मैं 'हिन्दू' की यह परिभाषा देना चाहता हूँ कि 'उस स्त्री या पुरुषको हिन्दू कहते हैं जिसको भोजनके संबंधमें किसी न किसीसे छू जानेमें परहेज हो, अर्थात् जो "मत छू (मछ्छू)" वादी हो।' सब ही परिभाषाओंमें कुछ अपवाद होता ही है। इस कारण परिभाषाको पूरी करनेके लिये इतना अपवाद कर देना चाहिए कि जगन्नाथपुरीमें और विदेशोंमें हिन्दू इस नियमको ढीला कर देता है और विदेशी विचारोंके सम्पर्कसे, अथवा विशेष आपत्कालमें, अथवा विशेष आश्रम ग्रहण करनेके कारण या विशेष पन्थमें सम्मिलित होनेसे भी कुछ हिन्दू इस नियमका पूरी तरह पालन नहीं करते। हिन्दुओंमें चाहे अपनेको कोई उच्च जातिका समझे चाहे दूसरोंसे नीच जातिका समझा जाय, शायद ही कोई हो जिसको भोजनके सम्बन्धमें कुछ बराव न हो। पूर्ण शुद्ध लोग तो अपने घर-वालोंसे भी बराव रखते हैं लेकिन साधारणतः एक

एक गरोहका अन्य सब गरोहोंसे बराव रहता है, या कोई एक गरोह किसी एक खास गरोहसे बराव न कर, औरोंसे करता है। इसका बड़ा लम्बा चौड़ा कर्मकांड है जिसका संस्कारके वश हम सभी पालन करते हैं लेकिन जिसको यदि लिखने बैठा जाय तो कई जिल्दें लिख कर भी पार नहीं पाया जायगा। भोजनका इस प्रकारसे आधार स्तम्भ हमारे लिये अस्पृश्यता है। यह विचार नितान्त भ्रान्त है कि कोइ विशेष जाति ही अस्पृश्य है। एतत्सम्बन्धी जो आन्दोलन इधर चला है उसके मूलमें ही, मेरे खयालसे, गलती है। इस कारण वह बहुतही संकुचित हो गया है और मौलिक बातोंसे उसने ध्यान खींच लिया है। वास्तवमें हम सब एक दूसरेके प्रति अस्पृश्य हैं। एक ही कुटुंबके भिन्न भिन्न लोग भी एक दूसरेके प्रति अस्पृश्य हैं। यह भाव न गन्दगी पर, न जन्मकी जातिपर, न पेशेपर निर्भर करता है। यह भोजनकी व्यवस्थापर निर्भर करता है।

भोजन और अस्पृश्यता

भोजनमें जब हम एक दूसरेको अस्पृश्य मानेंगे, जब हम किसी खास व्यक्तिसे छूए अन्नको और किसी एक खास व्यक्तिके साथ खानेमें परहेज करेंगे और इन बातोंपर बहुत ही दत्तचित्त रहेंगे, तब अवश्यही हमारा सारा जीवन इसके ही अनुसार अपनेको सम्हाले रहनेमें बीत जायगा। सड़कपर चलेंगे तो भी अपनेको दूसरोंसे बचानेका यत्न करेंगे, रेलपर भी परेशान होते रहेंगे। शारीरिक और मानसिक व्यथा जो व्यक्तियोंको इसके कारण हो उसकी तो मुझे बहुत चिन्ता नहीं है, पर जो सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघटनमें इसके कारण बाधा पड़ रही है उसकी अवश्य चिन्ता है। जब हमारे लिये भोजनमें दूसरे अस्पृश्य हैं तो वे सब बातोंमें अस्पृश्य हो जाते हैं। उनसे हमारा सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक सम्बन्ध भी छूट जाता है। चार आदमी साथ बैठ कर परस्पर उदारताके साथ विचार विनिमय भी नहीं कर पाते, काम बहुत दिनोंतक साथ नहीं

कर पाते—फौरन हम लोग एक दूसरेके प्रति अस्पृश्य हो जाते हैं। भोजनमें व्यक्तिवादी होनेसे सब बातोंमें व्यक्तिवादी हो जाते हैं और 'हम अपने घर खुश, तुम अपने घर खुश' के सिद्धान्त-को चरितार्थ करनेमें सदा उद्यत रहते हैं। इसके विपरीत और देशोंकी स्थितिको देखिए जहां लोगों को भोजनके सम्बन्धमें एक दूसरेको छूने या एक दूसरेसे छुए जानेमें परहेज नहीं है, जहां सब लोग एक साथ बैठकर खा सकते हैं, वहां भोजन का एक नियमित प्रकार हो जाता है। वहांपर भोजनके पदार्थोंमें समता रहती है। उपयुक्त भोजनके सम्बन्ध-में अनुसन्धान होता रहता है। सब कोई सबका प्रकार जानता है एक दूसरेके लिये जिससे प्रबन्ध करनेमें कोई असुविधा नहीं होती। इसका सामाजिक जीवनपर यह प्रभाव पड़ता है कि सबको सबसे सहानुभूति रहती है। सड़कपर एक दूसरेको न ढकेलते हुए न "दूर रहो, दूर रहो" कहते हुए चलते हैं। सब एक दूसरेके कर्तव्यों और अधि-

कारोंको समझते हुए उसके अनुरूप व्यवहार करते हैं। सभी कार्योंमें उनका संघटन बहुत जल्दी हो जाता है, बहुत मुश्किलसे टूटता है और मिलकर कार्य करनेका अभ्यास होनेके कारण उनको अपने कार्यमें सफलता भी मिलती है। अस्पृश्यताका मूल कारण हमारे भोजनका प्रकार है। उसीमें परिवर्तन करनेसे यह दूर होगी। उसके दोष व्यापक हैं। केवल यही नहीं है कि ब्राह्मण और शूद्र परस्पर एक दूसरेको छूते नहीं, पर वह तो हमारे सारे सामाजिक संघटनको ही दूषित किये हुए हैं। उसके दूर होते ही एक नया राष्ट्र स्वतः निर्मित हो जायगा। यदि वह दूर नहीं होती तो अन्य क्षेत्रोंके हमारे सब प्रयत्न विफल ही रहेंगे।

भोजन और अविश्वसनीयता

"भोजन और जीवन" शीर्षक
लेखमाला जो 'आज' में प्रकाशित
हुई थी उसका यह दूसरा
लेख है। * * *

मैंने पहले लेखमें यह दर्शानेका प्रयत्न किया था कि भोजनके सम्बन्धमें किस प्रकारके परिवर्तनसे अस्पृश्यता रूपी हमारा भयंकर राष्ट्रीय दोष दूर हो सकता है और उसके दूर होनेपर हमारा सामाजिक जीवन किस प्रकार उन्नत हो सकता है। हमने उसमें यह भी लिखा था कि अस्पृश्यताके सिवा हमारा दूसरा दोष 'अविश्वसनीयता' है, अर्थात् हम एक दूसरेकी किसी भी बातमें न विश्वास करते हैं, न कर सकते हैं। यहांपर हम यह दर्शाना चाहते हैं कि इसका भी कारण हमारी भोजन संबन्धी व्यवस्था या दुर्व्यवस्था ही है। हम लोगोंके सम्बन्धमें सबसे बड़ी शिकायत यह है कि हम समयका पालन नहीं करते। इसका एक मात्र

कारण यह है कि हम भोजन निश्चित समयसे नहीं करते। मनुष्य हर बातके सम्बन्धमें उदासीन हो सकता है, पर भोजनके सम्बन्धमें नहीं ही हो सकता। यदि उसे यह निश्चित हो जाय कि अमुक समयपर भोजनके स्थानपर न पहुंचनेसे भोजन न मिलेगा तो वह अवश्य समयसे ही पहुंचेगा। जब भोजनका समय निर्धारित हो जायगा तो वह विवश हो कर अपने जीवनके सब कार्योंका समय निर्धारित कर देगा क्योंकि डरेगा कि कहीं भोजनके समयमें गड़बड़ी न हो जाय और हम अपने उसी सुखसे वंचित हो जायं जिसके लिये हम दिन भर इतना प्रयास करते हैं।

समय पालन करनेका मेरा अभ्यास बहुत छोटी उमरसे है। श्रीमती एनी बेसेन्टका मेरे कुलसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वे समयकी बड़ी ही पालक थीं और इसका मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। तथापि कभी तो भूल हो ही सकती है, और मैं अपने जीवनकी एक दिलचस्प घटना यहां देना

चाहता हूं। इङ्गलैण्डमें जब मैं पढ़ने गया तो आरम्भमें एक निरामिष 'बोर्डिंग हाउस'में ठहरा। वहांपर सायंकालके भोजनका समय ८ बजेका था। एकदिन किसी कारण लौटनेमें मुझे देर हुई और मैं ९ बजे आया। मुझे इसका ख्याल भी न हुआ कि देर करके पहुंचनेसे भोजन नहीं मिलेगा। यह स्थान लण्डन शहरके बाहरके हिस्से हैम्पस्टेडमें था जहां कोई होटल, 'रेस्ट्रां' (भोजनालय) आदि नहीं था। यदि जानता तो शहरसे अवश्य ही खाकर आता क्योंकि वहांसे फिर शहर लौटना कठिन था। जब मैं पहुंचा तो सब लोग भोजन कर चुके थे। अपना भोजन मांगनेपर मुझसे कहा गया कि देरकर आनेके कारण मुझे भोजन नहीं मिल सकता। जब मैंने यह पूछा कि आखिर मेरा हिस्सा गया कहां तो मालूम हुआ कि उठ गया। हजार हाय तोबा किया, कहा कि दाम तो मुझसे लिया ही गया है, खाना क्यों नहीं दिया जाता, पर कुछ लाभ न हुआ, बिना खाये ही सोना पड़ा।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जबतक वहां रहा, फिर ऐसी गलती नहीं हुई ।

जब व्यक्तिगत जीवन सुसंघटित हो जायगा और सब काम हम समयसे करने लगेंगे तो अवश्य ही हम अपनेको ऐसा बना सकेंगे कि लोग हमपर विश्वास कर सकें और हम भी दूसरोंपर विश्वास कर सकेंगे । इस समय तो हम सबको निश्चय है कि चाहे कैसे ही कुसमय हम घर पहुंचें, घरकी स्त्रियां हमें अवश्य ही भोजन देंगी, वे हमारे आसरे बैठी रहेंगी । अगर घण्टों देर करके हम घर पहुंच कर यह भी उपेक्षाके साथ कह देंगे कि "हम दूसरी जगह खाकर आये हैं" तो भी वे शिकायत नहीं करेंगी । समयके पहले पहुंच कर खानेको मांगनेपर यदि खाना न मिले और समयके बाद यदि ठण्ढा हो जाय या कम हो जाय तो उनको डांटने डपटनेका हम अपना पूरा अधिकार समझते हैं । यही कारण है कि सम्पन्न घरोंमें प्रायः चौबीसों घण्टा नाना प्रकारके भोजन तैयार रखे जाते हैं कि

न मालूम किस समय किस चीजकी कितने लोगोंको जरूरत पड़ जाय और असम्पन्न घरोंमें जहां एक एक दाना अन्नकी चिन्ता करनी पड़ती है, यह कायदा होता है कि जब लोग आ जाते हैं तब खाना पकाना शुरू किया जाता है। यदि भोजनका निमन्त्रण दें तो न निमन्त्रण देनेवालोंको विश्वास रहता है कि निमन्त्रित सज्जन आनेका वादा करते हुए भी आवेंगे और न निमन्त्रितको ही विश्वास रहता है कि यदि वे समयसे पहुंच जायंगे तो निमन्त्रण देनेवाले सज्जन घरपर मिलेंगे या भोजन तैयार रहेगा। ऐसी स्थितिमें विवाह तकके निमन्त्रणके सम्बन्धमें कोई बात निश्चित नहीं रहती और निमन्त्रण देनेवाला बार बार निमन्त्रित लोगोंको याद दिलाता रहता है और निमन्त्रित लोग भी इस प्रकारसे आते हैं कि रातभर खिलाते ही खिलाते लोगोंकी मिट्टी पलीद रहती है।

जब भोजनके ही सम्बन्धमें हम अविश्वसनीय हैं तो अवश्य ही गृहस्थ यह आशा नहीं कर सकता

कि धोबी, दरजी, भंगी, सुनार, दुकानदार आदि उसका कार्य समयसे वादेके अनुसार कर देंगे और न इन्हीं बेचारोंको विश्वास होता है कि यदि समयसे काम कर देंगे तो गृहस्थ महाशय हमारा दाम भी ठीक प्रकार चुका देंगे। चन्दोंके वादोंके सम्बन्धमें तो सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओंको कड़ुआ अनुभव होगा। ऐसी स्थितिमें जब कोई किसीपर किसी भी बातमें विश्वास नहीं कर सकता तो समाजकी दुर्व्यवस्था अनिवार्य है और किसी भी प्रकारका संघटन असम्भव है। संघटनका मूल सिद्धान्त यह है कि उस संघटनके सब मनुष्यरूपी अंग देश और कालके सम्बन्धमें परस्पर विश्वसनीय हों और सब कोई अपने निर्धारित कार्यको ठीक प्रकारसे, ठीक समयसे, ठीक स्थानपर करें। अपने भोजनकी दुर्व्यवस्थाके कारण हमारी सब बातोंमें दुर्व्यवस्था है और देशमें हजार यत्न करते हुए भी सच्चा संघटन नहीं होता और 'संघे शक्तिः कलौयुगे' का आदेश पुस्तकोंको ही सुशोभित करता रह जाता है। हमारे जीवनपर

उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि हम भोजनके सम्बन्धमें विश्वसनीय हो जायँ तो सब कामोंमें विश्वसनीय हो जायँगे और बिना किसी और प्रयासके स्वतः सुसंघटित भी हो जायँगे।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै

भोजन और व्यवहार

भोजन और जीवन शीर्षक जो
लेखमाला आरंभमें 'आज'में प्रका-
शित हुई थी उसका यह तीसरा
और आखिरी लेख है। * *

भोजनके समयके व्यवहारका कितना असर हमारे जीवनके व्यवहारपर पड़ता है उसके अब कुछ उदाहरण ले लीजिये। भोजन प्रायः हम अकेले करना पसन्द करते हैं, इस कारण हम व्यक्तिवादी होकर सब बातें अलग ही करते हैं। भोजनके समय यदि कोई और लोग उपस्थित रहें, जैसे स्त्री आदि, तो जितना झंझट रहे सब पेश किया जाता है। देवरानी जेठानीकी शिकायतें, नौकर चाकरकी शिकायतें, लड़के बच्चोंकी शिकायतें, दुनियाभरकी कपोलकल्पित बदनामियोंकी आशंकाएं, लड़कियोंके विवाहके सम्बन्धमें पतिकी उदासीनता, नाक कटाने, मुंह काला करनेकी व्यवस्था सब उस समय उपस्थित होती है। दुःख सुखको एक माननेवाला

वेदान्ती हिन्दू अवश्य ही भोजन और झंझटका अपूर्व समन्वय कर सकता है। यदि भोजनके समयकी यह हालत है तो अवश्य ही जब दो व्यक्ति कहीं भी मिलते हैं तब स्वाभाविक रूपसे एक दूसरेपर अपनी दिक्कतोंकी कहानी लादने लगते हैं।

भोजनमें अस्पृश्यताका विचार रहनेके कारण खाना हमें फेंक फेंककर दिया जाता है। अन्य देशोंके विचारमें यह बड़ा अशिष्ट प्रकार है। इसी कारण वे लोग एक दूसरेको चीज फेंककर नहीं देते, पर हमारे यहां इसे कोई अनुचित नहीं मानता कि बैठे बैठे आप कलम कागज किताब या अन्य वस्तु फेंककर दूसरेको दें। यूरोपीय लोग जब भोजन करते हैं तो एक दूसरेके पास उनकी आवश्यकताके पदार्थ बराबर देते रहते हैं, खयाल करते रहते हैं कि किसको किस चीजकी आवश्यकता है। ऐसी अवस्थामें सड़कपर चलते, रेलमें सफर करते हुए एक दूसरेको सहायता पहुंचाते रहते हैं। हम

अपनी ही सुविधाकी खोजमें सबको कष्ट देते और सबसे कष्ट पाते रहते हैं। अन्य देशोंमें यह नियम है कि भोजनके समय एक व्यक्तिके सामने नमक, चटनी, पानी आदिका बरतन रखा हो और पंक्तिमें बैठे तीन व्यक्तियोंके बाद किसीको उसकी आवश्यकता हो तो पहला व्यक्ति उसे इनकी तरफ बढ़ाता है और बीचवाले उसे लेकर आगे बढ़ाते जाते हैं। इसका प्रभाव यह है कि रेल आदिमें यदि दूर दूर बैठे दो व्यक्ति एक दूसरेके पास कुछ भेजना चाहते हैं तो या तो फेंककर दें, या बेतरतीबसे रखे असबाबसे ठोकर खाते हुए उसके पास जाकर दें। यदि हाथ बढ़ाकर देना चाहें तो बीचके बैठे लोग उस चीजको लेकर बढ़ा देना उचित नहीं समझते। बल्कि उदासीन हो बैठे रहते हैं और यह बेचारा सम्भवसे अधिक हाथको फैलाकर अपने मित्रतक चीज पहुंचानेका विफल प्रयत्न करता रहता है। भोजनके समय जब एक दूसरेका व्यंजन छूनेसे परहेज रहता है और एक दूसरेको सहायता देकर

उसके उपयुक्त वस्तु पहुंचानेकी आवश्यकता नहीं रहती तो बाहरके जीवनमें भी ऐसा व्यवहार बना रहता है।

भोजनके समय हम लोग काफी चिल्लाते हैं। जिह्वा एक ही साथ खाने और चिल्लाने दोनोंका काम करती है। छोटे मोटे भोजमें भी इतना कोलाहल मचता है कि अन्य देशोंमें तो शायद ख्याल हो कि आग लग गयी है। अवश्य ही हमारा सारा जीवन हल्ला करते ही बीतता है और कमसे कम हम हल्ला करना अनुचित नहीं समझते। हमारे यहां खानेवालेके भोजनकी मात्रा परसनेवालेको तय करनी पड़ती है। यदि पर्याप्त सामग्री रही तो जरूरतसे ज्यादा परसा जाता है। बड़े आग्रहसे खिलाया जाता है। खानेवालेके लिये संकोच करना—उचित होता है—"हां हां दद्यात्, हूं हूं दद्यात्, न दद्यात् सिंह गर्जने" "ना, ना, करनेपर दो, नहीं, नहीं, करनेपर भी दो, जब सिंहकी तरह गरजकर कोई कहे 'मत दो' तब देना बन्द करो।"

अवश्य ही इसके कारण जीवनकी सब चेष्टामें कोई किसीके सम्बन्धमें यह नहीं जान सकता कि जो यह कह रहा है वही इसका वास्तवमें मतलब है, अथवा बहाना कर रहा है। अन्य देशोंमें जब अपनी भूखके अनुसार ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये उचित होता है कि भोजनकी मात्रा स्वयं ही अपनी थालीमें परस ले तो न आग्रह और न संकोचकी गुंजाइश रहती है। वास्तविकतापर ध्यान सदा रहता है। ऐसे लोग जीवनमें भी वास्तविक बातें ही कहते सुनते रहते हैं और किसीको किसीके संबंधमें शंका करनेका अवसर नहीं मिलता। आग्रह और संकोचकी प्रतिद्वन्द्वितामें बहुत भोजनका अपव्यय होता है जो दूसरे स्थानपर नहीं होता। यही कारण है हम सभी चीजोंका अपव्यय करते रहते हैं। जब थोड़ेसे काम चल सकता है, वहां बहुत फेंक देते हैं।

हमारे यहां यदि कोई भोजन करने आवे तो एहसान हमारे ऊपर रहता है कि उसने जूठन

छोड़ी। खानेवाला अनुगृहीत नहीं होता कि किसीने उसे निमन्त्रण दिया। इस कारण खिलानेवाला परेशान रहता है कि कोई वस्तु कम न हो जाय। खानेवाला इस ताकमें रहता है कि कोई वस्तु यदि कम हो जाय तो मजा आवे। विवाहादि सम्बन्धी जेवनारोंमें तो निमंत्रित लोगोंको यदि जरासा पता लग जाय कि अमुक वस्तु कम हो गयी तो सबको उसीकी आवश्यकता यकायक हो जाती है। दूसरे देशोंमें जब प्रायः सारा भोज्य-पदार्थ सामने रख दिया जाता है जैसा कुटुम्बके भोजनोंमें होता है, अथवा परसनेवालोंके बरतनोंमेंसे स्वयं लेना पड़ता है, जैसा बड़े भोजोंमें होता है, तो एक प्रकारसे सबको मालूम हो जाता है कि कितनी चीज है और कितने खानेवाले हैं और सब कोई हिसाबसे चीजें लेता है कि सबको मिल जाय। हमारे यहां जब बड़े भोज होते हैं तो प्रायः प्रत्येक वस्तु इतनी मात्रामें बनायी जाती है कि यदि सब लोग केवल एकही पदार्थसे पेट भरना चाहें तो भी भर

सकें। अपव्यय तो होता ही है, साथ ही जब भोजनके समय दूसरेको जलील करना हम अनुचित नहीं समझते तो अपने सामाजिक जीवनमें भी हम सब एक दूसरेको जलील करनेका यत्न करते रहते हैं और उसीमें आनन्दका अनुभव भी करते हैं।

गीतामें श्रीकृष्णका "परस्परं भावयन्तः" का आवश्यक आदेश जैसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके ही लिये था। उसके बाहर और उसके बाद उस समयके वीर पुरुषोंके उत्तराधिकारियोंके लिये गीताकी पुस्तक-पर फूल-माला चढ़ाना, बड़े अहंमन्य होकर गीता माहात्म्य पढ़ना, उसके अध्यायोंका तोतोंकी तरह पाठ करना मात्र ही पर्याप्त है। उसके अर्थको अपने जीवनमें कार्यान्वित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस किसी दृष्टिसे देखिये इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भोजन-संबन्धी सुव्यवस्था कर-नेसे हमारी अविश्वसनीयता जाती रहेगी। हम सुसंघटित होनेसे बहुतसे आवश्यक गुण सीख सकेंगे और एक नया राष्ट्र निर्माण कर उन्नत और

स्वतन्त्र राष्ट्रोंकी पंक्तिमें बैठनेके योग्य अपनेको बना सकेंगे। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो हम चाहे कितना ही यत्न करें वास्तवमें कुछ भी न कर सकेंगे और जैसे हैं और रहे हैं, दम्भसे भरे व्यक्तिवादी परपददलित समष्टिके विकृत अंग ही सदा बने रहेंगे।

युक्ताऽहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

लोटेका पानी

यह लेख आरंभमें काशीके
'तरंग'में प्रकाशित हुआ था।

लोग कैसे बेवकूफ होते हैं, जानबूझकर बदमाशी करते हैं, जब जरूरत होती है देखते हैं लोटेमें पानी ही नहीं रहता''—कितनी ही बार हम लोग इस तरह 'झनक पटक' चुके हैं, जब शौचके बाद या भोजन कर चुकने पर अशुद्ध हाथको दूसरे हाथकी सहायतासे धोनेके प्रयत्नमें लोटेमें पानी न रहनेके कारण विफल हुए हैं। धर्मकी रक्षा, शुद्धिकी रक्षा, दिमागकी रक्षा का एक साथही समन्वय हम न कर सकनेके कारण अधीर हो उठे हैं। पर कसूर किसका है ? जरा सोचिए तो। कसूर तो बराबर आपका ही है। दूसरा कैसे दोषी ठहरा। आखिर हुआ क्या ? चलिए हम इसी समस्यापर आज विचार कर लें।

जब खानेको बैठने लगे तो लोटेको कंडालके पानीसे भरकर आपने हाथ धो लिया और खाने चले

गये। क्या कोई फिरिश्ता आकर उस लोटेको पानीसे भर देगा जिससे आप जब खाकर लौटें तो लोटा भरा पावें और बायें हाथकी सहायतासे दाहिने हाथको धोलें। जब आप शौच जाने लगे तो लोटेको कलसे भरकर अपने शौचालयका लोटा तो भर लिया और खाली लोटा बाहर छोड़कर भीतर चले गये। चाहे आप कितनेही धार्मिक हों, चाहे आप कितने ही जोरसे विधि पूर्वक जनेउको गलेमें लपेट, सिरपर फेर दोनों कानोंपर चढ़ावें, पर आपको यह तो वरदान है ही नहीं कि आपके लोटेमें पानी बराबर भरा रहेगा और जब आप चाहेंगे मिल जायगा। अवश्यही जब आप बाहर आवेंगे तो लोटेको निर्जल पावेंगे—केवल निर्जला एकादशीको ही नहीं पर प्रतिदिन—और किसी दूसरे को भला बुरा कहनेसे कोई लाभ न होगा।

यदि क्रोधसे अपनेको और अन्य निर्दोष आश्रित जनोंको आप बचाना चाहें तो एक छोटीसी बात याद रखिए। आगे आपको किस वस्तुकी आवश्य-

कता होगी उसका पहले से ही विचार कर लीजिए और उसकी पूर्तिका प्रबन्ध रखिए। तब आपको कोई दिक्कत न होगी। यदि आप ख्याल रखें कि भोजनके बाद हाथ धोनेकी आवश्यकता होगी तो आप पानी लोटेमें भरकर भोजन करने बैठेंगे। और मजा तो यह है कि ऐसी अवस्था रोज होती है, पर हम अपनेको दोष न देकर दूसरोंको देते हैं, और अपनी आदतमें उचित परिवर्तन कर अपनी रक्षाका प्रबंध नहीं करते। यदि पाठक बुरा न मानें तो एक पुरानी कथा सुनाऊं।

एक जंगलमें बहुतसी चिड़ियाँ घोसला बनाकर रहती थीं। वहां एक बंदर भी रहता था। दिनमें बंदर अपने कामपर—अर्थात् दूसरोंका काम बिगाड़ने—चला जाता था, पर रातको वहीं आ जाता था। एक दिन बहुत पानी बरसा। वह भींगता हुआ परेशान रातभर पेड़की डारपर बैठा रह गया। दूसरे दिन जब वह अपने हाल रोजगारके लिए जाने लगा तब चिड़ियोंने सलाह दी कि तुम भी

घोसला बनालो जिससे रातको आरामसे रहो। बंदर-को यह सलाह पसंद आयी। इसने कहा मैं अभी लौटता हूँ तब बनाऊंगा। पर दिनभर वह घूमता रहा। रातको फिर उसकी वही हालत हुई। बरसातके बाद जाड़ा आया। वह घोंसला बनाना रोजही भूल जाता था। जाड़ोंमें ठिठुरते रात बिताता था पर चिड़ियोंकी सलाह नहीं लेता था।

चिड़ियोंने उसे नेक सलाह देनेकी बारबार कोशि-श की पर सब बेकार। एक दिन ठिठुरता हुआ वह बैठा था कि उसने चिड़ियोंको आपसमें बात करते सुना। वे उसके साथ सहानुभूति प्रकट कर रही थीं। आश्चर्य कर रही थीं कि वह क्यों इतना कष्ट सहता है, क्यों नहीं घोसला बना लेता। इसपर बंदरको बड़ा गुस्सा आया और उसने उठकर बेचारी चिड़ियोंका सब घोंसला तोड़कर फेंक दिया। तो सलाह देते भी डर लगता है। उसमें भी धोखाही रहता है। अपनी आदत छूटती नहीं और हम दूसरोंकी हानि करनेको उद्यत हो जाते हैं। पर हम

बंदरकी प्रकृति कबतक रखेंगे। डार्विनके मतानुसार भी बंदरकी योनिसे निकले काफी दिन हो गये। अवश्यही हम लोटेमें पानी भरकर कलसे शौचको या भोजनको जांयगे।

यहाँ तक तो ठीक है। पर मामला यहीं नहीं खतम होता। हमें सब बातोंमें दूरदर्शितासे काम लेना होगा। 'हो जायगा, सब हो जायगा' कहने मात्रसे संसारका काम नहीं हो जाता। अपने व्यक्तिगत जीवनकी अपने कौटुम्बिक जीवनकी, अपने सामाजिक जीवनकी सब खराबियाँ इसी कारण हैं कि हम पहलेसे विचार कर प्रबंध नहीं करते और पीछे परेशान होते हैं। हमारे घरमें सब वस्तु इधर उधर क्यों पड़ी रहती है, समय पर कोई चीज क्यों नहीं मिलती क्योंकि लोटेमें पानी भरकर रखनेकी हमें आदत नहीं, कोई चीज़ हम ठीक प्रकारसे उसकी जगह नहीं रखते, आवश्यकता पड़नेपर उठा लेते हैं फिर उसे वापस न कर यहां वहाँ छोड़ देते हैं। हमारे घरों में और कोई काम

न भी हो पर विवाहतो अक़सर ही होता है। उसके प्रबन्धका अनुभव तो सबको ही होना चाहिए। क्यों हरबार गले बैठने लगते हैं दुरवस्था होती ही रहती है, कोई काम समयसे नहीं होता, मारे परेशानीके आफत रहती है, आनन्ददायी उत्सव न होकर विवाह कृत्य कष्टदायी कर्तव्य मात्र हो जाते हैं। मेरा आग्रह है कि लोटेमें पानी भरनेकी आदत लगाइए। इसकी बदौलत सब काम ठीक होने लगेगा। सब चीजोंको ठीक प्रकार रखनेकी आदत हो जायगी। पहलेसे सोचकर सब कामको करनेका अभ्यास पड़ जायगा। घर साफ हो जायगा, रोजगार पनपने लगेगा, आपको किसीसे और किसीको आपसे शिकायत न रह जायगी, संसारही हँसता देख पड़ेगा। सब गुण होते हुए भी यह अवगुण हमें मार देता है, हम सबके सामने हार जाते हैं, हम संसारमें उन्नति नहीं कर पाते हैं। जब कभी आप किसी दिक्कतमें पड़ें तो लोटेके पानीको याद कीजिए। वहीं आपकी सब समस्याएँ हल हो

जाँयगी, इसीमें आपको सब संकटों को हरनेका साधन मौजूद है। उसकी बदौलत आपकी सूई बेवक्त और बे जगह न चुभेगी, उसीसे आप बेमतलब सिल लोढ़ासे ठोकर खानेसे बचेंगे, उसीसे आपका पैर बेजगह पड़ी छुरीसे न कटेगा, उसीसे आवश्यकता के समय दस्तावेज आपको खोजना न पड़ेगा, उसीसे किसी नेवतेमें जानेके समय आपका कपड़ा शिकन पड़ा हुआ गंदा न रहेगा, उसीसे—इत्यादि, कहां तक बात बढ़ावें। बुद्धिमान के लिये संकेत मात्र पर्याप्त है।

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्ष्ये राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे स्मशाने च यस्तिष्ठति स बांधवः॥

मृत्यु और आलस्य

यह लेख आरम्भमें 'आज' में
प्रकाशित हुआ था। * *

हमारे देशके नर-नारियोंके सामने दो समस्याएँ आरम्भ–कालसे ही मौजूद हैं—मृत्युका भय और अकर्मण्यता। मृत्युसे जो निरन्तर भय हमें लगा रहता है उसे हमने दार्शनिक पराकाष्ठा समझ रखा है और हमारे आलस्यने आध्यात्मिकताका रूप ग्रहण किया है। इन मौलिक बातोंपर हमारा आत्म सन्तोष सदासे हमें नष्टभ्रष्ट कर रहा है। हमारे देशके सभी विचारवान जिनके लेख आज हमें मिलते हैं, हमारे इन दो प्रकृतिगत दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करते रहे हैं। आजके विचारवान भी ऐसा ही कर रहे हैं। सबके लिखनेका तरीका पृथक् पृथक् है और संभव है कि किसीने भी इन समस्याओंको ऐसे स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित न किया हो। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णके सामने भी ये ही समस्याएं थीं और उस पुस्तकके सात सौ श्लोकोंमें उन्होंने

भारतवासियोंसे यही पुकार पुकार कर कहा है कि अकर्मण्यताको छोड़ो और कर्ममार्गको ग्रहण करो। वे यह भी यत्न करते हैं कि जनसाधारणसे मृत्युका भय दूर करावें और एतदर्थ पूर्व और भविष्यके जन्मोंके अस्तित्व को पेश करते हैं और यह आशा दिलाते हैं कि यदि कोई व्यक्ति अपने इस जन्मके जीवन से सन्तुष्ट न हो तो वह दूसरे जन्ममें अपने वांछित पदार्थको पा सकता है।

हमारे ऐसे देशमें जहां मृत्यु पद पदपर मौजूद है और हर समय बिना किसी सूचनाके धोखेसे आती है, यह स्वाभाविक है कि उससे भय लगे। बड़ी बड़ी महामारियाँ यकायक फैल जाती हैं और लाखों आदमियोंको बातकी बातमें उटा लेती हैं। हमारे देशकी जलवायु ऐसी दूषित है कि हम बहुत ही अल्पायु होते हैं। सर्पादिके रूपमें हरएक झाड़ी और कोनेमें मृत्यु मौजूद रहती है। कोई आश्चर्य नहीं कि जो लोग ऐसी भयावह स्थितिमें रहते हैं उन्हें मृत्यु का भय सदा लगा रहे। उनके लिये

मृत्यु कोई ऐसी चीज नहीं है जो सुदूर भविष्यमें आनेवाली है और अपरिहार्य समझ जब वह आवे तो उदासीनताके साथ उसका सामना किया जाय। वह तो हमारे लिये सदा उपस्थित रहती है, जिसके कारण एक एक पगमें कष्ट होता है और पृथ्वीपर अपने जीवनके लिये कोई कार्यक्रम बनाना व्यर्थ मालूम होता है। ऐसे लोगोंके बीचमें ऐसे दार्शनिकोंका आना अनिवार्य है जो पूर्व और भविष्य जीवनकी चर्चा करें और यह आशा दें कि यदि इस जीवनमें हमें अपना अभीष्ट नहीं मिला है तो आगे मिलेगा। मनुष्य अपने सन्तोषके साधन अवश्य खोजेगा और यदि उसे वह यहां नहीं मिलता तो दूसरी जगह जायगा।

इस प्रकारसे हमारे देशके विचारवानोंने 'कर्म' में विश्वास फैलाया जिसके द्वारा मनुष्यको इस जीवनकी कठिनाईमें सान्त्वना मिले और उसकी यह धारण हो कि किसी समयके कार्योंका यह फल है। साथ ही उन्होंने पुनर्जन्मकी भी बात चलायी

जिससे मनुष्यको यह समझाया जाय कि यदि वह अपने वर्तमान जीवनसे सन्तुष्ट नहीं है तो उसे इससे अधिक अच्छा जीवन भविष्यमें मिलेगा। मैं इन दोनों विश्वासोंका जो पुरातन भारतीय संस्कृतिके आधार-स्तंभ हैं, कोई दूसरा अर्थ नहीं लगा सकता। पूर्व और भविष्य जीवन वास्तविक घटनाएँ हैं—यह मानना जरा कठिन मालूम पड़ता है। यदि और कोई कारण न भी होता तो मुझे यही कारण पर्याप्त मालूम पड़ता है कि अन्य देशों के विचारवानोंने, जो हमारे देशके विचारवानोंकी ही तरह सम्मानके योग्य हैं, इस प्रकार का कोई विचार नहीं फैलाया और यद्यपि हमारे वर्तमान दार्शनिकोंने यह यत्न किया है कि इन बातोंकी आभा वे उन लोगोंके लेखोंमें भी देखें जिन्हें वे वहाँके पण्डित पीर या पैगम्बर मानते हैं, पर इसमें उनको कुछ भी सफलता नहीं हुई है। हमारे दार्शनिक यही कहते हैं कि दर्शन, धार्मिक सम्प्रदाय आदिका प्रादुर्भाव मृत्युसे भयके कारण

है । पर दर्शन और धार्मिक सम्प्रदाय अन्य स्थानों में भी विकसित हुए हैं और जहांतक मुझे मालूम है वहां कोई यह नहीं कहता कि मृत्युके भयके कारण उन्होंने इन विषयोंका अनुसंधान किया । उनका तो कहना है कि कुतूहल, ज्ञानेषणा, चीजोंको समझनेके लिये मनुष्यकी स्वाभाविक वासना, इनके कारण हैं । भारतमें चाहे बुद्ध और शंकर हों, चाहे सड़कपर घूमता हुआ सन्यासी या घरमें अध्ययन करता हुआ विद्वान, सब मृत्युकी ही चर्चा लगातार करते हैं, संसारकी अनित्यतापर जोर देते हैं, और मनुष्यको उत्साहित करते हैं कि नित्य और शाश्वतपर मन लगावें, जो न 'यह' है और न 'यहां' है ।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि हम व्यक्तिवादी और भाग्यवादी हो गये हैं । हम सब अपने ही ऊपर सदा ध्यान करते रहते हैं, अपनी ही मुक्तिकी चिन्तामें व्यस्त रहते हैं, और जहांतक अन्य बातें हैं सब भाग्यपर छोड़ देते हैं । इसका नतीजा यह हुआ है कि हम सब अपने भाइयोंसे

मिलकर काम कर ही नहीं सकते । हम सदा यह चाहते हैं कि सोलह आने हमारी ही बात मानी जाय और जरा भी मतभेद होते ही हम कामसे हट जाते हैं । यही कारण है कि हमारा सारा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संघटन व्यर्थ हो जाता है । अपने निजी जीवनकी अनित्यताके महत्वपर सदा ध्यान रखनेके कारण हमको इसकी फिकर नहीं है कि जब हम स्वयं नहीं रहेंगे तो किसीकी क्या दशा हो । इस कारण हम संसारमें कुछ परिवर्तनकी चिन्ता नहीं करते और यदि दूसरोंके यत्नसे ऐसा हो जाता है तो उसकी ओरसे हम सर्वथा उदासीन रहते हैं । जिन लोगोंने कर्म और पुनर्जन्मकी बातें निकालीं उनका यह विचार था कि लोगोंको इससे सान्त्वना होगी और मृत्युको वे आवश्यकतासे अधिक महत्व न देंगे, पर वास्तवमें परिणाम यह हुआ कि हम मृत्युकी चिन्तना पहलेसे अधिक करने लगे और उससे हमें भय भी अधिक लगने लगा ।

दूसरी समस्या अकर्मण्यताकी है । कृष्ण तो बार बार आलस्यके विरुद्ध आवाज उठाते हैं और सबसे कहते हैं—उठो, काम करो, फलकी चिन्ता मत करो, बिना आसक्त हुए कर्म करो, क्या लाभ किससे होता है इसीका मनन मत करते रहो । पर न उनकी न अन्य दार्शनिकोंकी शिक्षा हमारे आलस्यको दूर कर सकी । हम शब्द-जाल ही अच्छी तरह बिछा सकते हैं । कार्य करनेसे हम सदा डरते हैं । दूसरोंको अच्छी सलाह देनेके लिये हम सदा प्रस्तुत रहते हैं, पर उसके अनुसार स्वयं चलनेको नहीं तैयार रहते और हमारी सारी कारगुजारी इतनेमें ही परिमित रहती है कि हम दूसरोंका दोष निकालें, दूसरोंको अपनी दिक्कतोंके लिये जिम्मेदार बतलावें, मानसिक कल्पनाओंके चक्करमें पड़े रहें और घटपर पट है अथवा पटपर घट है, इसकी विवेचना और विवादमें सारा समय और शक्ति लगावें । यदि थोड़े ही लोग इस विनोदमें लगे होते तो कोई हर्ज न होता, पर जब

सारा देश उसमें लगा हुआ है, किसी दूसरी बातकी परवाह नहीं करता, अपनी प्रति दिनकी आवश्यकताओंके सम्बन्धमें भी उदासीन हैं तो स्थिति भयावह हो जाती है और शारीरिक और नैतिक आलस्य बहुत बढ़ जाता है।

यह सब लिखनेका तात्पर्य यह है कि लेखक उन महापुरुषोंका ध्यान देशवासियोंकी मौलिक प्रकृतियोंकी तरफ आकर्षित करना चाहता है जिनके ऊपर देशके नेतृत्वका भार है, जिससे उन्हें यह भ्रम न हो कि जब लाखों आदमी उनका जयजयकार पुकारते हैं और उनके कार्यक्रमसे मौखिक सहानुभूति दिखलाते हैं, तो वे उनके आदेशके अनुसार चलनेको भी तैयार रहते हैं। अपने छोटेसे अनुभवमें मुझे तो यही मालूम पड़ा है कि हमारे देशवासियोंकी प्रकृति वैसीकी वैसी ही है और जबतक इसीके बदलनेका यत्न नहीं किया जाता तबतक थोड़ेसे लोगोंका तीव्र यत्न भी व्यर्थ होगा और हम वहींके वहीं पड़े रहेंगे जहां पहले भी ऐसे ही

महापुरुषोंके यत्न करनेपर भी पड़े रहे। हमारे यहां कार्यक्रमोंकी कमी नहीं रही है। हमारे यहां महापुरुष भी काफी हुए हैं, पर जनसाधारण जिनके लिये कार्यक्रम बनाया जाता है और जिन्हींके लिये महापुरुष शिक्षा देते हैं, अपने स्थानसे आगे नहीं बढ़ते। उदासीनता और अकर्मण्यताकी चट्टानपर जोश और उत्साहकी लहरें व्यर्थ टकराती रह जायंगी जबतक कि हमें कोई कार्यप्रधान दर्शनशास्त्र नहीं मिलता जिससे मृत्युका भय हम अपनेमेंसे निकाल सकें। जबतक आलस्य हममेंसे जबर्दस्ती नहीं हटाया जाता, तबतक देश कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता, चाहे वह अपने नेताओंकी कितनी ही पूजा क्यों न करे। अन्धभक्ति भी एक प्रकारकी अकर्मण्यता ही है, क्योंकि हम स्वयं बिना कुछ किये थोड़ेसे फूल, फल, धूप, गन्ध और प्रशंसा सूचक शब्दोंके बदलेमें बहुत बड़ा फल चाहते हैं। यदि हम कार्यक्रमोंसे ही सन्तुष्ट हैं, तो इनकी कमी हमारे देशमें नहीं है, क्योंकि कागजपर

योजनाएँ बनानेमें जिस तीव्रतासे हमारा मस्तिष्क काम करता है उतना कम लोगोंका करता होगा। और परिणाम यह होगा, जैसा अबतक होता रहा है, कि हम अनन्त विवादमें पड़े रह जायंगे, क्योंकि बौद्धिक सामंजस्यके लिये जितने जोरसे हमारी जिह्वा पुकारती है उतनी कम लोगोंकी पुकारती होगी चाहे वास्तविकता और व्यवहार योग्यतासे उसका कोई सम्बन्ध हो या न हो। इस प्रकार हम सदा शाब्दिक झगड़ेमें पड़े रहेंगे, यह बहाना करते रहेंगे कि संसार वैसा नहीं है जैसा वास्तवमें हम उसे पाते हैं और इस बीच शत्रु मजबूत होता चला जायगा और हमारी दासताकी शृंखला अधिकाधिक कसती जायगी।

मेरी समझमें हमें केवल एक ही कार्यक्रमकी आवश्यकता है, अर्थात् आत्मनियन्त्रणके साधारण सरल नियम सबको सिखलाये जायं। गूढ़ विषयोंपर जितनी शक्ति हम व्यय करते हैं उसकी आधी भी यदि हम सामाजिक कर्तव्योंके प्रचारमें व्यय करें

और सबको बतलावें कि घरमें रहते हुए सड़कपर चलते हुए, अपना रोजगारका काम करते हुए, दूसरेके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, अगर हम सब को सचेत और कार्यशील रहना सिखलावें, अगर हम लोगोंको यह बतलावें कि मृत्यु और परलोकसे परेशान न हो कर जीवन और इह लोककी चिन्ता करें, अगर हम सबको समझावें कि संसार न उनके जन्मसे आरम्भ हुआ है न उनकी मृत्युसे समाप्त होगा, पर उनसे अधिक स्थायी है जिसपर उनके कार्योंका भी असर पड़ सकता है यदि वे यत्नशील हो जांय,—तो शायद हमें ऐसी जनता मिल सके जिसपर कोई भी कार्यक्रम कारगर हो सकता है और हम उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। अगर मनुष्य ही नहीं रहेगा तो कार्यक्रम केवल कागजपर रह जायगा, अगर मनुष्य रहेगा तो वह किसी भी कार्यक्रमको सफल कर सकता है। मेरी प्रार्थना है कि हमारे नेतागण इस कार्यमें हमें सहायता दें। मेरी अभिलाषा है कि जनसाधारण इसे पसन्द करें और इससे सहयोग करें।

मांगे [मंगनी] की चीज़

यह लेख आरंभमें काशीके
'अरुणोदय' पत्रमें प्रकाशित हुआ
था । * * *

संघटित समाजकी यह शोभा है कि सब कोई सबका लेहाज़ रखे और सबका सबपर भरोसा रहे । यदि मनुष्य अकेले ही अपनी सब आवश्यकताओं-की पूर्ति कर सकता तो संघटनकी आवश्यकता ही न रहती और जहाँ परस्परका विश्वास उठा वहां विघटन आरंभ हो जाता है । हम सबको ही विशेष विशेष अवसरोंपर अपने परोसिओं, रिश्ते-दारों, दोस्तोंकी सहायता आवश्यक होती है । किसीके भी पास सब समयकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेका साधन सदा उपस्थित नहीं ही रह सकता । यही कारण है कि मनुष्य समाजमें एक दूसरेसे चीजें मांगे (मंगनी) पर लेनेकी प्रथा सी चली आती है । यह ऐसी दृढ़ हो गयी है कि कभी कभी मित्रोंको शिकायत भी हो जाती है यदि किसी उत्सव आदिके

समय उनसे चीजें न मांगी जांय। चलते चलते अब अपने देशमें मंगनी पर चीजें पाना यह एक अधिकार सा हो गया है। पर उनके साथ जो कर्तव्यका अंश लगा हुआ है—और प्रत्येक अधिकारके साथ कर्तव्यका अनिवार्य संबंध है—उसे हम भूल गये हैं। उसी पर ध्यान दिलाना इस लेखका उद्देश्य है।

एक दिन मैं रानीकुँआसे (जो काशीमें व्यापारका एक पुराना केंद्र है) गुजर रहा था। एक मज़दूरने एक दूकानके सामने कुछ छोटे छोटे बासोंका गट्ठा जोरसे पटका। दूकानपर बैठे हुए एक सज्जनने उसे डांट कर कहा—'क्या यह मंगनीकी चीज़ है कि इस तरह पटकते हो।' मैं झिझका, रुका, पर कुछ कहनेका साहस अपनेमें न पाकर चला गया। यह बहुत दिनोंकी बात है। पर इसका असर मेरे ऊपर पड़ा रहा। तबसे इन मार्मिक वाक्योंका कटु अनुभव बार बार स्वयं कर चुका हूँ। बात क्या है ? हम यह समझने लगे हैं कि मंगनीकी

चीज़ोंकी फिकर करनेकी जरूरत ही नहीं है। मंगनी की चीजें खराब करनेके लिये हैं । हमें मंगनी लेने का हक है, मंगनीकी चीजोंके दुष्प्रयोगका भी हक है, मंगनी देने वालेका फर्ज़ है मंगनी दे, पर उसे यह हक नहीं है कि जिस अवस्थामें चीजें दी हैं उसी अवस्थामें उसे फिर वापस पावे। यदि वह न दे तो हमें शिकायत करनेका हक है, यदि वह शिकायत करे तो हमें गाली देनेका भी हक है । हम यह भूल गये कि आज हमने मंगनी ली है, कल हमें मंगनी देनी पड़ेगी तो क्या हम यह पसन्द करेंगे कि हमसे और हमारी वस्तुओंके साथ उसी प्रकारका कोई व्यवहार करे जैसा कि हम दूसरे और दूसरेकी वस्तुओंके साथ आज खुद कर रहे हैं।

पुस्तकें हम यदि मंगनी लेते हैं तो उन्हें वापस नहीं करते । बहुत याद देहानी के बाद यदि वापस करते हैं तो झुंझला कर, दो चार अपशब्द सुना कर, और उसे फाड़ कर, गंदा कर, दूसरेके लिये अयोग्य बना कर । यदि दरी चांदनी लेते हैं तो

कभी साफ कर वापस नहीं करते बल्कि विवाह शादीके बाद उसमें पत्ते पुरवे बटोर कर वापस करते हैं। यदि बरतन लेते है तो उन्हें मांज कर नहीं वापस करते, पर जूठे गंदे ही वापस करते हैं। यदि मकान मंगनी लेते हैं तो ऐसी दशामें छोड़ते हैं कि उसका वर्णन न करना ही उचित होगा। बिना मंगनी लिये काम नहीं चलता, बिना मंगनी दिये सामाजिक संबंध ही टूटता है, तो कोई ऐसा तरीका निकालना चाहिए जिससे 'सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे'। मंगनी की चीजें आप अवश्य लीजिए पर रानीकुवाँ वाले हमारे नायक का भाव कदापि न रखिए। लेने और देने वाले दोनोंकी ही शोभा है। पर मंगनीकी चीजोंकी अपनी चीजोंसे अधिक फिकर करनी चाहिए। उसका ठीक तरहसे सदुपयोग कर उसे उसी अवस्थामें वापस करना चाहिए जिस अवस्थामें लिया था। यदि लंपकी चिमनी टूट गयी हो तो दूसरी लगा कर वापस भेजना चाहिए, चांदनी, बर्तन

आदि अच्छी तरह साफ करा कर वापस करना चाहिए और मकानमें अच्छी तरह झाड़ू देकर ही मकान मालिकको फिर सिपुर्द कर देना चाहिए। यदि इन सब बातोंका ख्याल रखा जाय तो एक दूसरेकी शिकायत बहुत कम हो जाय और मनुष्य समाजके सुदृढ़ सुसंघटनके साथ ही साथ मनुष्योंके परस्परके संबंधकी शोभा और सौन्दर्य बढ़ जाय। उसूल बहुत छोटा सा है, कार्यान्वित करनेमें न जाने क्यों बड़ी ही कठिनाई होती है—

आत्मनः प्रतिकूलानि
परेषां न समाचरेत्।

जिस प्रकारके व्यवहारसे अपनेको कष्ट हो, जिसे हम स्वयं अपने लिये पसन्द न करें, वैसा हम दूसरों के साथ भी न करें। जैसा हम चाहें कि अन्य लोग हमारे साथ वर्ताव करें, वैसा ही हम दूसरोंके साथ भी करें।

व्यक्ति और समष्टि

यह लेख आरंभमें "विद्यापीठ"
त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित
हुआ था । * * *

प्राणिमात्रको दो बातोंकी प्रधानतः खोज रहती है। जीवको शिश्नोदर-परायण कहते भी हैं। अपने पेटके पालन और अपनी परम्परा स्थायी रखनेके ही यत्नमें हम सबका जीवन उत्सर्ग होता है। प्रकृतिने इन दो वासनाओंको इस प्रकार हममें भर रखा है कि हम सब उनके सामने असहाय हैं। यदि उदरका पालन करके हम अपना व्यक्तिगत जीवन स्थापित रखते हैं, तो यौन प्रक्रियासे अपने नाम और रूपको, अपनी जातिको, स्थायी करते हैं। प्रकृतिका यह अद्भुत प्रबन्ध है जिससे ये दोनों प्रकार आनन्ददायी बना दिये गये हैं। यदि ऐसा न होता तो संसारकी विपत्तियों और संघर्षोंको देखता हुआ कोई भी इसे स्थायी रखनेकी अभिलाषा न करता। प्रकृतिने प्राणिमात्रको विवश-सा

बना रखा है। उसकी मानों आज्ञा है कि येन केन प्रकारेण तुम अपना उदर-पालन अवश्य करो। जिह्वाको रसास्वादनका भी जबर्दस्त साधन बना दिया है जिसके ही द्वारा उदरका पालन हो सकता है। इसका उद्देश्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन यथासम्भव दीर्घ करता रहे। अवश्य ही इस क्रियासे दूसरोंका जीवन नष्ट होता है। कहा भी है 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। एक जीव दूसरे जीवका भोजनकर अपनी रक्षा करता है। एक दूसरेका भक्षण करते रहनेपर भी हर एक नाम और रूपके प्राणी-संसारमें स्थायी होकर विराजमान हैं, क्योंकि यदि एक तरफ परस्परके भोजन सम्बन्धी संघर्षमें प्राणियोंका नाश होता रहता है तो दूसरी तरफ एक दूसरेका भोजनकर भिन्न भिन्न प्राणी अपनी आत्मरक्षा करते हैं और जब दूसरेका भोजन बनकर अथवा कालकी गतिके कारण उनका व्यक्तिगत नाश भी हो जाता है तो भी अपने ही रूपके दूसरे प्राणियोंको वे काफी संख्यामें अपनी यौन

प्रक्रियाके कारण छोड़ जाते हैं । मृत्यु और जन्मकी संख्याका ऐसा तारतम्य रहता है कि सब प्रकारके प्राणी स्थायी रूपसे बने रहते हैं । थोड़ेमें प्रकृतिका यह नियम है कि एक तरफ व्यक्तिगत प्राणी अपने जीवनको यथासम्भव दीर्घ बनावे और दूसरी तरफ यह समझकर कि एक न एक दिन किसी न किसी कारणसे उसका व्यक्तिगत नाश अवश्य होगा, वह अपने नाम और रूपको—अपनी जातिको—स्थायी करता जाय ।

शिश्न और उदरका उपर्युक्त कारणोंसे इतना अधिक प्राधान्य सबके जीवनमें है कि सारा संसार इन्हींका प्रतिविम्ब सा प्रतीत होता है और प्रत्येक प्राणीका आचार-विचार इन्हींपर अवलम्बित रहता है । अन्य सब योनियोंको छोड़कर हम मनुष्य-योनिके प्राणियोंकी ही समीक्षा परीक्षा करें । दूसरी-योनियोंमें तो एतत्सम्बन्धी प्रक्रियाएँ ऐसी नैसर्गिक मानी गयी हैं कि उनमें कोई सङ्कोच अथवा लज्जाका भाव नहीं आता । परन्तु मनुष्यने तो अपनेको

सभ्य बना रखा है। वह एक समाजमें सङ्घटित रूपसे रहनेका प्रयत्न करता है। जीवनके कटु सत्योंपर पर्दा डाले रहता है। प्राकृतिक कार्योंमें सङ्कोच करता है और उनके अनिवार्य होनेपर एक कृत्रिम शोभाके साथ उन्हें करना चाहता है। यह सब होते हुए भी यदि हम अनुसन्धान करें तो देखेंगे कि हर आयु और हर स्थितिके स्त्री-पुरुषोंके अधिकतर विचार इन्हींके सम्बन्धमें होते हैं और वे बातचीत भी इन्हींके विषयमें करते हैं। साधारण मनुष्य और पागल मनुष्यमें वास्तवमें यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य अपनेको काबूमें रखता है और देशकाल देखकर बातचीत या व्यवहार करता है। किन्तु पागल आदमीको अपने ऊपर अधिकार नहीं रह जाता। जो कुछ उसके मनमें आता है वही वह कहता और करता है। ऐसी अवस्थामें उसकी बात और चेष्टा शिश्नोदर सम्बन्धी ही रहती हैं। सभ्य से सभ्य हँसी मज़ाकका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध इन्हींसे

रहता है । एतत्सम्बन्धी चर्चामें ही सबको सबसे अधिक दिलचस्पी रहती है और जिस साहित्यका इनसे अधिकतर सम्पर्क रहता है उसीकी सबसे अधिक माँग भी रहती है । यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि इन्हींके ताण्डव-नृत्यका नाम समाज है । जो लोग इनकी जरा भी चर्चाको अश्लील और वीभत्स कहते हैं वे वास्तवमें मक्कार हैं । इन वासनाओंकी तृप्तिके सम्बन्धमें जितना कुछ अनाचार और अत्याचार हो रहा है उसका मुख्य कारण यही है कि जिन लोगोंसे और जिस प्रकारसे इन विषयोंपर विचार विनिमय करना चाहिए वैसा नहीं किया जाता और स्वाभाविक आवेशमें इनका ज्ञान हम सब ही एक अनुचित रूपमें प्राप्त करते हैं जिससे हम अपनी और अपने समाजकी हानि करते हैं ।

मनुष्य सङ्कटित समाजमें रहता है । उसने अपनेको सभ्य बनाया है । उसके मस्तिष्कके आविष्कारोंने चमत्कार दिखलाया है । पर मूल

बातें बदली नहीं जा सकतीं और इनमें वह वैसा ही है जैसा कि उसके पूर्वज रहे। पर संघटन, सभ्यता, वैज्ञानिक आविष्कार, इत्यादि सब ऐसी चीजें हैं जिनके कारण कृत्रिमताकी शरण लेनी पड़ती है। इस कारण अपने भावोंको प्रदर्शित करनेके लिए शब्दाडम्बर भी रचा जाता है। विशेष स्थितियोंके कारण विशेष समस्याएँ भी पैदा होती हैं और उनको हल करनेके लिए नये प्रकार और नये शब्द गढ़े जाते हैं। उदर-पूर्तिका अर्थात् अपने व्यक्तिगत जीवनको यथासंभव अधिकतम दिनोंतक कायम रखनेके प्रयत्नका आजके समाजमें दूसरा नाम रोजगारकी खोज है। कामवासनाके आप्यायनका अर्थात् अपनी परम्पराको चिरस्थायी रखनेके प्रयत्नका ही पर्याय विवाह है। दोनों मेंही लगातार प्रयोग हो रहे हैं। बड़ेसे बड़े मस्तिष्क इसके निदानमें लगे हुए हैं और एतज्जनित दिक्कतोंको कम करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। जो कोई भी इनके सम्बन्धमें चर्चा करनेका साहस करता है

उसकी तरफ सभी लोग दौड़ते हैं और अपने जीवनके गुह्य रहस्योंकी कसौटीपर इनकी चिकित्साको कसते हैं। अस्तु, आजकल दो विशिष्ट लेखकोंकी संसार-व्यापी चर्चा हो रही है—कार्ल मार्क्स और सिगमुंड फ्रायड। कुछ लोगोंको इसकी शिकायत है कि इन्हें इतना महत्व क्यों दिया जा रहा है। ये कहते हैं कि आजकल तो लोग सिवाय इनकी पुस्तकोंके और कुछ पढ़ते ही नहीं। बहुतोंका यह विचार हो रहा है कि कार्ल मार्क्सकी पुस्तकें समाजको नष्ट-भ्रष्ट कर रही हैं और फ्रायडके लेख नवयुवकोंको खराब कर रहे हैं, तथापि संसार इनकी ही तरफ जा रहा है। यहाँतक कि जो लोग इनके विरुद्ध हैं और जो दूसरोंको इनसे बचाना चाहते हैं वे भी इन्हें पढ़ते हैं। इस रहस्यका क्या अर्थ है? इनकी बातें हमें क्यों परेशान कर रही हैं हर दूसरी बातसे हटकर हमारा ध्यान इन्हीं पर क्यों केन्द्रीभूत होता है? हमारी व्याकुलताका कारण क्या है? इसका शमन सम्भव है या नहीं?

और यदि सम्भव है तो उसका उपाय क्या है ? मार्क्स और फ्रायडने व्यक्ति और समष्टि, मनुष्य और समाजकी मूल बातोंपर विचार किया है। उन्होंने हर एक व्यक्तिको अपने आपको शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक पहलूमें मानो आइनेके नग्नरूपमें देखनेका मौका दिया है। व्यक्तिका समाजमें क्या स्थान है, इसे बतला कर यह प्रबन्ध करना चाहा है कि व्यक्तिगत उन्नतिके साथ साथ सामाजिक संघटन और भी पुष्ट हो। अनियमित शिश्नोदर वासनाओंकी तृप्तिमें व्यक्ति समष्टिको खराब न कर दे, इसकी उन्हें काफी चिन्ता है। समाज क्या रूप ले जिससे व्यक्तिगत वासनाओंके साथ साथ समाज रूपी विराट पुरुषकी भी रक्षा हो, इसे उन्होंने बतलानेका प्रयत्न किया है। उदरकी समस्या मार्क्स हल करते हैं, अथवा करना चाहते हैं और उसके हल करनेका प्रयत्न करते हैं। कामकी समस्या फ्रायड हल करते हैं, अथवा करना चाहते हैं और उसके हल करनेका प्रयत्न करते हैं।

जब ये दोनों विद्वान् इन दोनों प्राथमिक बातोंपर विस्तारसे विचार कर रहे हैं तो अवश्य ही अन्य लोग दूसरे कामोंको छोड़कर इनकी तरफ आवेंगे और व्यक्तिगत तथा समाजगत समस्याओंको समझने और उसे व्यवहार्य रूपसे हल करनेके लिये इनकी सहायता लेंगे। मनुष्यका जीवन काफी जटिल हो गया है। पुराने प्रकारोंसे उसकी मांगें पूरी नहीं हो रही हैं। पुराने सिद्धान्त ठीक भी हों, पर जब तफसीलकी बातें आती हैं तब उनसे काम नहीं चलता। इस जटिल और दिनपर दिन अधिक जटिल होते हुए मनुष्य-समाजको विघटनसे बचानेका क्या तरीका है, यही प्रश्न सबके सामने है। समालोचना करते हुए कार्ल मार्क्स पर यह दोष लगाया जा सकता है कि उन्होंने मनुष्यके इतिहासको समझनेकी कुञ्जी केवल लौकिक आवश्यकता ही रखी है। कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपने इतिहासमें मनुष्यने लौकिक भावोंको छोड़कर काम किया

है और ऐसी सब घटनाओंमें जिनसे समाजका कायापलट हुआ है कार्यकर्त्ताओंका चाहे कुछ ही भाव क्यों न रहा हो, नेताओंका भाव स्वार्थके बहुत परे रहा है। उनके विचारोंपर यह भी दोष लगाया जा सकता है कि यह सम्भव नहीं है कि राष्ट्रके मिट जानेपर भी समाजका संघटन बाकी रह सकेगा।

यह भी कहा जा सकता है कि यह प्रबन्ध करना असम्भव है कि व्यक्ति जितना अधिकसे अधिक कार्य्य कर सकता हो करे और जितनी उसकी वास्तविक अर्थात् कमसे कम आवश्यकता हो उतना ही वह ले। यह सम्भव है कि जब व्यक्तिगत लाभकी एषणा हटा दी जायगी, व्यक्तिगत सम्पत्ति, प्रेमादिके साधन मिट जायँगे, तो मनुष्य उतना कार्य न करेगा और अपने कार्यमें उतना मन न लगावेगा जितना कि वह लगा सकता है। पर साथ ही साथ यह मानना होगा कि अनियमित संघर्षके ही कारण इस समयकी आर्थिक अस्त-

व्यस्तता, वर्गगत युद्ध आदि जारी है । मार्क्सका कहना है—ईसामसीह भी यही कह गये हैं—कि जो कार्य न करे उसे भोजन न मिले । अर्थात् सबको कार्य करना चाहिए और सबकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति होनी चाहिए । यह दशा उसी समय हो सकती है जब संसारके सभी कार्यकर्त्तागण संघटित हो जायँ और श्रमके महत्वको स्वीकार कर उसे आत्मसम्मानके साथ सम्पन्न करें । इससे उनके उदरकी पूर्त्ति होगी । बेकारीका मसला हल होगा । काम और दामका बटवारा उपयुक्त प्रकारसे हो सकेगा और सबको अपने तथा दूसरोंके कार्यके फलोंमें समुचित प्रकारसे हिस्सा लेनेका मौक़ा मिलेगा । कार्ल मार्क्सके भक्तोंका कहना है कि सम्यक् प्रकारसे उदर-पूर्त्तिकी समस्याको व्यक्तिगत और सामूहिक रूपसे मनुष्य-समाजमें हल करनेका मार्ग वे बताते हैं । इसी कारण वे इतने लोक-प्रिय हो रहे हैं और उनकी पुस्तकोंका इतना प्रचार है । उनके बताये हुए मार्गोंका विस्तृत रूपसे प्रयोग हो

रहा है। जिनको अपनी हानिका भय है—क्योंकि सभी प्रकारकी क्रान्तियोंमें कुछ लोगोंकी तो हानि अवश्य ही होती है—वे उसका विकट विरोध कर रहे हैं और इनके नामपर सारे संसारमें अजब हलचल मची हुई है। पर यदि आज इनका इतना नाम सुना जा रहा है तो किसीको शिकायतका मौक़ा नहीं है, क्योंकि ये प्राणिमात्रके जीवनके एक मौलिक सिद्धान्तका अनुसन्धान कर रहे हैं और उनकी प्राथमिक आवश्यकताकी पूर्त्तिका यत्न कर रहे हैं।

सिगमुण्ड फ्रायडकी समालोचना करते हुए उनपर यह दोष लग सकता है कि उन्होंने असाधारण मनुष्यों अथवा साधारण मनुष्योंकी असाधारण अवस्थाका ही अन्वेषण किया है और कामैषणा सम्बन्धी विचारों पर आवश्यकतासे अधिक ज़ोर देकर अनायास ही लोगोंका ध्यान उसीपर केन्द्रीभूत कर दिया है और जीवनकी सब घटनाओंको उसीसे सम्बद्ध बतलाया है। उनके

लेखोंसे और विशेषकर उनके लेखोंका जो अर्थ उनके अनुयायियोंने किया है उससे ऐसा मालूम होता है कि कृत्रिम रूपसे खींच तान कर उन्होंने मनुष्य जीवनके सब आचार-विचारोंको, छोटी बड़ी सब बातोंको इसीसे सम्बद्ध कर दिया है। विद्वानों और वैज्ञानिकोंके स्वभावमें हमेशासे यह दोष रहा है कि जिस बातका उन्हें विश्वास हो जाता है उसका बड़ा आग्रह भी होता है। उसके अतिरिक्त वे कुछ देख ही नहीं सकते। उसके विपरीत यदि कोई बात प्रत्यक्ष भी देख पड़ जाय तो उसे माननेको तैयार नहीं होते। अपने विचारके विरुद्ध राय रखनेवालोंकी वे अवहेलना करते हैं और यह सम्भव ही नहीं मानते कि कोई दूसरी राय हो सकती है अथवा कोई समझदार आदमी दूसरी राय रख सकता है। उदाहरणार्थ डार्विनने चारो तरफ आत्मरक्षाके लिए परस्परका संघर्ष ही संघर्ष देखा और यह बतलाया कि शक्तिशाली ही इसमें जीवित रह सकते हैं। इनके विपरीत क्रोपाटकिनने

चारो तरफ जीवोंको परस्पर सहायता देते हुए पाया और असहायोंको ही सबसे अधिक सुरक्षित देखा। सारांश यह कि वास्तवमें सत्यके कई अङ्ग होते हैं, विस्तृत नेत्रके लोग भी सत्यका एकाध अङ्ग ही देख पाते हैं और उसे ही पूर्ण सत्य मान लेते हैं। उसीपर ज़ोर देते हैं और अतिशयोक्तिके साथ उसीकी पुष्टि करते रहते हैं। दूसरा दोष फ्रायड-पर यह लगाया जा सकता है कि इस विषयको जो कि स्वाभाविक रूपसे प्राणियोंको आकर्षित करता रहता है और जिससे बहुत कुछ बचाव उसे भुलानेसे ही हो सकता है, उन्होंने खोलकर रख दिया जिसके कारण स्पष्ट रूपसे उसकी चर्चा करनेके लिए सब लोग उत्साहित हो गये। लिहाज़ पर्दा सब जाता रहा और अश्लीलता, बीभत्सता और मनुष्यके जीवनके सौंदर्यका विचार न कर इसकी चर्चा चारों ओर होने लगी है। नवयुवकों-पर इसका काफी असर पड़ा। इसमें सन्देह नहीं है कि यह सब दोष फ्रायड और उनके साथियों

पर लगाया जा सकता है। अवश्य ही पुरातन शैलीके अनुसार चलनेवालोंके हृदयपर काफी धक्का पहुँच रहा है। बहुतसे लोगोंमें उद्दण्डता भी आ गयी है। सभ्यताकी कृत्रिमताको देखते हुए बहुत-से लोग परेशान हैं। व्यवहार रूपमें सम्भव है कुछ प्रचलित प्रणालियोंको धक्का पहुँचे। विचारोंको कार्यान्वित करनेमें अस्त-व्यस्तता भी हो सकती है, पर यदि आज इनका इतना नाम सुना जा रहा है तो किसीको शिकायतका मौक़ा नहीं है क्योंकि मार्क्सकी ही तरह ये भी प्राणिमात्रके जीवनके एक मौलिक सिद्धान्तका अनुसन्धान कर रहे हैं और उनकी प्राथमिक आवश्यकताकी पूर्त्तिका यत्न कर रहे हैं।

ज्ञानका मूल्य यदि ज्ञान ही समझा जाय तो और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, पर यह विषय केवल मस्तिष्कके सिञ्चनका ही नहीं है, छुट्टीके समय काव्य और शास्त्र द्वारा विनोद प्राप्त करनेका ही नहीं है। यह तो जीने और मरनेका

प्रश्न है। व्यक्तिके सुख, समष्टिके अस्तित्व, व्यक्ति और समष्टिके परस्पर सम्बन्ध, समाजके संघटन और जीवके प्रवाहको स्थायी रखनेका प्रश्न इसके अन्तर्गत है। इस कारण इसपर व्यवहार बुद्धिसे काम लेना होगा। चाहे समस्याको सहल कहा जाय चाहे कठिन, समस्या केवल इतनी है कि किस प्रकारसे जो व्यक्ति संसारमें पैदा होता है वह अपने प्रति, अपने कुटुम्ब और अपने समाजके प्रति अधिकसे अधिक उपयोगी बनाया जाय, तथा जो समाज है अर्थात् जो व्यक्तियोंका समूह है उसका संघटन किस प्रकारसे हो जो सबके लिए सुखकर हो, और जिसमें सब व्यक्तियोंको अपनी व्यक्तिगत समुचित वासनाओं तथा आकांक्षाओंकी पूर्त्ति करनेमें तथा आन्तरिक शक्तियोंका सदुपयोग करनेमें सहायता मिले और साथ ही साथ स्थायी रूपसे समष्टि भी स्थापित रहे। नाना प्रकारके प्रयोग हो चुके। जन्मना जाति स्थापित करके यह प्रयत्न किया गया कि आर्थिक जीवनमें संघर्षकी

कटुता हटायी जाय और सबको ही अपनी कुल-परम्पराके पेशे स्वीकार करनेमें बाध्य किया जाय जिससे संसारका सब अङ्गोंका कार्य समुचित रूपसे होता रहे। इसके विपरीत यह भी प्रयोग किया गया कि यथासम्भव सबको एक ही प्रकार-की शिक्षा दी जाय और सबको ही यह अवसर हो कि अपनी बुद्धि और शक्तिका प्रयोग करके वह अपना उचित स्थान संसारमें प्राप्त कर सके। इन दोनोंके बीचमें कोई मार्ग अब निकालना है जिससे संघर्षकी कटुता भी दूर हो सके, संसारके सब कार्योंके अङ्गोंकी समुचित पूर्ति तथा पुष्टि हो, और साथ ही साथ व्यक्तिगत शक्तियोंका भी दमन न हो। सम्भव है मार्क्सने इस मार्गको निकालने-का सफल प्रयत्न किया है। माता-पिताके स्थानपर उन्होंने संघटित राष्ट्रको स्थापित किया है जो कि उपयुक्त शिक्षा देकर सबसे उपयुक्त काम ले और सबके उपयुक्त योग-क्षेमकी चिन्ता करे जिससे व्यक्ति-गत जीवन भी बना रहे और समाज भी चलता रहे।

काम सम्बन्धी बातोंमें भी बहुत प्रयोग हुए। माता-पिताकी इच्छाको प्राधान्य देकर यह व्यवस्था की गयी कि वे ही उपयुक्त वर और वधू अपनी सन्ततिके लिए निर्धारित करें जिससे शान्तिके साथ व्यक्तिगत वासनाओंकी तृप्ति हो सके और साथ ही समाज भी स्थायी बना रहे। इसके विपरीत इस सम्बन्धमें स्वतन्त्रता देकर यह प्रकार चलाया गया कि जब स्त्री पुरुष अपने पैरोंपर खड़े होने योग्य हों और उनमें कुटुम्बका भार वहन करनेकी शक्ति हो तो वे अपने इच्छानुसार वैवाहिक संबंध करें। सम्भव है कि फ्रायडकी शिक्षा कोई बीचका मार्ग निकाल सके जिससे व्यक्ति अपनेको एतत्सम्बन्धी मामलोंमें दूसरोंके विचारोंसे बाध्य भी न समझे और उपयुक्त यौन सम्बन्धमें प्रतिद्वन्द्विताका भी शिकार न हो। वह अपनी समुचित कामवासनाको शान्त करता हुआ अपने कर्त्तव्योंका भी अनुभव करे और समयसे सम्बन्ध भी कर सके जिससे उसकी और समाजकी हानि न होकर

अधिकतम लाभ ही हो। यदि माता-पितापर अपनी सन्ततिका विवाह करनेका भार रहता है तो वे नाना प्रकारकी आशंकाओंके कारण उचित समयसे जल्दी सम्बन्ध कर देते हैं, यदि यह कार्य अपने ऊपर ही निर्भर करता है तो प्रतिद्वन्द्विता और नाना-प्रकारके सङ्कोच, भय, आकांक्षा, आदर्श, और आवश्यकताओंके कारण उसमें बहुत विलम्ब हो जाता है। यदि माता-पिताका किया हुआ सम्बन्ध एक दम टूट ही नहीं सकता जिसके कारण अशान्ति पैदा होती है, तो अपने किए हुए सम्बन्ध जल्दी जल्दी टूटने लगते हैं जिसमें नाना प्रकारके सङ्कट पैदा हो जाते हैं। सम्भव है कि जब इस विषयपर इतना विचार हो चुका तो उपयुक्त समयसे उपयुक्त लोगोंकी सलाह लेकर और अपनी इच्छाओं और वासनाओंपर भी ध्यान रखते हुए मनुष्य इस प्रकारका यौन सम्बन्ध करेगा जिससे व्यक्तिगत जीवन उल्लसित और उत्साहित हो और समाज भी सुदृढ़ तथा सुसम्पन्न बना रहे।

पुत्रीको पत्र

यह पत्र सत्याग्रह आन्दोलनके समय कारा-वासमें लिखा गया था। काशीकी 'कमला' मासिक पत्रिकामें प्रकाशित भी हुआ है। * *

जिला जेल, बनारस।

११ दिसम्बर १९३२

अति प्यारी मेरी बेटी गुल्लू,*

टालते-टालते आखिर वह दिन आ ही गया जब तुम्हें यह घर छोड़ अपने घर जाना होगा, पिताका घर छोड़ पतिके घर जाना होगा। मैं ऐसी जगह फँसा पड़ा हूँ कि तुमसे खुद कुछ कह नहीं सकता। साथही फजूलकी बहुतसी सलाह देनेकी मेरी आदत भी नहीं है, कितनी ही बातें हम

* मेरी माताने इस कन्याका नाम 'गुलगुल' रखा था। इसका अपभ्रंश कर विवाह तक मैं उसे 'गुल्लू' पुकारा करता था। इसी कारण पत्रमें वही नाम है। मेरे परमप्रिय मित्र स्वर्गवासी श्री मंगलप्रसादजीने उसका नाम 'प्रभावती' रखा था और अब तो सब मित्र और कुटुम्बीजन उसी नामसे उसे जानते और पुकारते हैं।

सबको खुद ही सीखनी पड़ती हैं। सलाहका मूल्य भी अपने अनुभव पर ही निर्भर करता है। तो भी मैंने सोचा कि थोड़ीसी बात मैं तुमको यहाँसे लिखकर भेज दूँ, जो शायद शुरू-शुरूमें तुम्हारे कामकी हों। पीछे तो खुद ही सब समझमें आ जायगा।

बेटी, मैं तुमसे कह नहीं सकता कि तुम मेरे लिये क्या हो। तुम्हारी माताके चले जानेके बाद * तुम्हीं लोग मेरे जीवनके आधार रहे। दुनियामें कहीं भी रहा, मेरे दिलमें तुम्हीं बच्चोंका वास रहा। जो कुछ काम किया या नहीं किया, सब इसी कारण कि मेरे बच्चोंके ऊपर दुनियाका बोझ बहुत न पड़ने पावे। अब तुम जाती हो। मैं यही चाहूँगा कि तुम जहाँ रहो सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहो। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जबतक मैं जीता हूँ मेरे घरको तुम अपना ही घर मानना और मुझे पिता ही नहीं, अपना मित्र भी जानना। दुनियाँ

---

* मेरी स्त्रीका देहान्त शीतलामें सन् १९२६ में हुआ जब यह कन्या केवल दस वर्षकी थी।

बड़ी कठिन जगह है, न जाने यहाँ कब क्या अपने सिरपर पड़े। इसमें तो कडुए अनुभव ही ज्यादा होते हैं। पर, बेटी, तुम मुझपर विश्वास रखना। किसी बातका संकोच मत करना। तुम मुझसे जो चाहना कहना और मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सब हालतमें मैं सहानुभूतिके साथ जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा तुम्हारे लिये करूँगा।

मैंने शक्तिभर तुम्हारे लिये योग्य वर ढूँढ़ा है। पर गृहस्थी कठिन चीज है। मेरा विश्वास है कि तुम्हारे नये माता-पिता तुम्हारा आदर करेंगे और तुम्हें प्रेमसे रखेंगे। मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि अगर तुम अपनी ओरसे फिकर रखोगी तो तुम्हारे पति तुम्हारा सदा सम्मान करेंगे और तुमसे सदा स्नेह रखेंगे। मैं यह चाहता हूँ कि तुम हफ्तेमें एक दिन मेरे यहाँ जरूर चिट्ठी लिखना और सालमें एक बार जरूर आना। जबतक मैं यहाँ जेलमें हूँ तबतक दादाजीको[1] ही लिखना। मैं

१. श्री भगवान् दासजी।

७ फरवरीको[1] छूटूँगा। उसके बाद तुम जरूर आना और अगर इस साल फिर इम्तिहान[2] देनेका शौक हो तो ठहर जाना, इम्तिहानके बाद वापस घर जाना।

मनुस्मृतिमें मुझे उस दिन एक श्लोक मिला जो मेरी समझमें सब बातोंको बहुत सुन्दर तरह बतला देता है। मैं उसीको यहाँ लिखकर यथाबुद्धि उसकी व्याख्या कर देता हूँ। मुझे आशा है कि वह तुम्हारे कामका होगा। स्त्रियोंका कर्तव्य बतलाते हुए मनुजी कहते हैं—

सदा प्रहृष्यया भाव्यं, गृह कार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया, व्यये चामुक्तहस्तया॥

'सदा प्रहृष्यया भाव्यम्'—स्त्रियोंको क्या सबको ही सदा प्रसन्न रहना चाहिए। संसारमें रोना बहुत

---

१. सख्त कैद होनेके कारण छूट मिलनेसे मैं १३ जनवरी १९३३ को छोड़ दिया गया।

२. प्रभावती उस समय हिन्दू विश्वविद्यालयकी एडमिशन परीक्षाकी तैयारी कर रही थी।

है, हँसना कम है। इसका विशेष कारण यह है कि हम सब अपने-अपने भाग्यसे असन्तुष्ट हैं, दूसरों को अपनेसे ज्यादा सुखी समझते हैं और दूसरोंका पद पाना चाहते हैं। सच्ची बात यह है कि सुख-दुःखकी मात्रा सबको बराबर ही बँटी है, कोई किसीमें बड़ा है तो कोई किसीमें। जिसको हम अपनेसे ज्यादा सुखी समझते हैं वह दूसरी बातों में हमसे ज्यादा दुखी है। इसी कारण सन्तोष रखना जरूरी है और साथ ही प्रसन्नतापूर्वक अपनी स्थितिकी उन्नतिकी भी चिन्ता करते ही रहना चाहिए। गृहस्थीमें छोटी-छोटी बातें बढ़कर बड़ी हो जाती हैं। जरा-जरा बातमें लड़ाई हो जाती है और घर नाश हो जाता है। थोड़ी-थोड़ी बातकी दिलको चोट लग जाती है और उसीपर विचार करते-करते अपना ही चित्त मलिन होता है। इस कारण सदा प्रसन्न रहना, हर स्थितिमें मुस्किराते रहना, दुनियाकी दिक्कतोंका सामना साहस और धीरजसे करते रहना। जब तुम दुखी हो तो सारा संसार दुखी

हो जाता है। एकका दुःख आसपास सबको व्यापता है। सो, बेटी, तुम सदा प्रसन्न रहना। तुमको हँसमुख देखकर और लोग भी अपना-अपना दुःख भूलकर प्रसन्न हो जायँगे। सदा प्रहृष्टया भाव्यम्।

(सदा) गृहकार्येषु दक्षया (भाव्यम्)। दूसरी बड़ी जरूरी बात हम सबके लिये यह है कि घरके काममें सदा होशियार रहें। घरके कामोंकी सब तफसीलोंको जानें। कुछ काम पड़ जानेपर बिना हाथ-पैरके न हो जायँ। अपने नौकर-चाकर भी तभीतक ठीक काम करते हैं जब जानते हैं कि यह काम मालिक भी जानता है और अगर हम न करेंगे तो वह खुद कर लेगा। ऐसे ही आदमीकी इज्जत भी है जो खुद कामको जानता और समझता है। यह खयाल बिलकुल गलत है कि अपने हाथसे काम करना ठीक नहीं है। बड़े-छोटे सबको ही अपने हाथसे गृहस्थीका सब काम सदा करनेको तैयार रहना चाहिए और कर सकनेकी अक्ल भी

होनी चाहिए। अपने कामको ठीक तरह जानना, उसमें गर्व रखना और उसे मेहनतसे करना, यही कार्यकुशल व्यक्तिका चिन्ह है। ऐसे व्यक्तियोंकी हमारे समाजमें बहुत जरूरत है।

गृहस्थी बड़ी टेढ़ी खीर है। बीसों आदमियोंसे रोज काम पड़ता है। सबको सम्हाले रहना पड़ता है। अपनी भी बचत किये रहना पड़ता है। मेरी समझमें सबसे मीठा बोलना, दूसरोंकी दिक्कतोंको समझकर उनसे सहानुभूति रखना, अपने आश्रित जनोंपर दया करना और सब लोगोंका उचित आदर सत्कार करना—इससे साधारण तरहसे दुनियाके आदमियोंका साथ निबह जाता है। अगर आदमी एक छोटीसी बात सदा याद रखे तो वह गलती कभी नहीं कर सकता, अर्थात् जिस बातसे अपने को अच्छा या बुरा लगता है उससे दूसरोंको भी अच्छा या बुरा लगता है और जैसा बर्ताव हम चाहते हैं कि दूसरे हमसे करें वैसा ही बर्ताव हम दूसरोंसे करें। सब चीजोंको ठीक तरहसे रखना,

सब काम ठीक समयमें करना, इससे घरकी रोजकी दिक्कतोंसे बहुत बचत होती है।

मुझे आशा है कि खाना बनाना और सीना-पिरोना तुमने अच्छी तरहसे सीखा होगा। अगर नहीं सीखा हो तो धीरे-धीरे सीख लेना। अच्छा भोजन खानेका सबको शौक है और यह ठीक मिलनेसे घरके लोग प्रसन्न रहते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि दिन-रात रसोईमें ही सनी रहो। ठीक समयसे काम करनेसे, खेलने पढ़ने आदिका भी समय मिल जाता है। अब पुराना समय गया जब स्त्रियाँ बन्द रहती थीं। तुम्हें बाहर निकलना होगा बाहरकी दुनियाका भी काम करना होगा। तुम्हें अपने पतिके घरवालोंकी ही फिक्र नहीं, उनके मित्रोंकी भी फिक्र करनी होगी। ऐसी अवस्थामें सभीके साथ अच्छा व्यवहार रखना होगा, सभीकी खातिर करनी होगी। साथ ही इसकी भी फिक्र रखनी होगी कि बाहरके काममें गृहस्थीका नुकसान न हो, और न किसी बाहरके

आदमीके साथ अधिक परिचय हो जाय जिससे पतिके दिलको किसी प्रकारसे कष्ट पहुँचे। अवश्य ही तुम यह सब याद रखोगी। (सदा) गृहकार्येषु दक्षया (भाव्यम्)।

(सदा) सुसंस्कृतोपस्करया (भाव्यम्)। सब चीज सदा साफ रखना चाहिए। तुम तो जानती हो कि सफाईपर मैं खुद कितना ध्यान देता हूँ। घर, कपड़ा, खाना यदि साफ रहे तो बीमारी भी दूर रहती है और दिल भी प्रसन्न रहता है। लोग कहते हैं कि ऐसा अमीर आदमी ही कर सकता है, सो बात गलत है। इसमें जितनी मिहनत आवश्यक है उतना पैसा नहीं। बहुतसी चीजोंको जब आदमी बटोर लेता है तब सबकी देखभाल मुश्किल हो जाती है। इस वास्ते अपने कामकी थोड़ी ही चीज रखनी चाहिए। तभी सफाई भी रह सकती है। सब चीजोंको ठीक रखनेमें सफाई और खूबसूरती है और साथ ही वक्तपर सब चीजें मिल भी जाती हैं।

जगहसे चीज निकाली जाय और काम हो जानेपर जगहपर ही रख दी जाय तो बड़ा सुभीता रहता है, नहीं तो सूई, दियासलाई ऐसी छोटी-छोटी चीजें भी इधर-उधर पड़ी रहनेसे बड़ा धोखा देती हैं। ठीक तरहसे रखनेपर चीजें बहुत दिन चलती भी हैं। खोनेका भी डर कम रहता है। चीजके थोड़ा खराब होते ही ठीक कर लेनेसे खर्च भी बचता है और आगेकी दिक्कत भी। कपड़ेमें चीर लगतेही सी लेनेसे कपड़ा बच जाता है, नहीं तो छोड़ देनेसे सारा कपड़ा खराब हो जाता है। ऐसे ही और बातोंमें भी सजग रहना चाहिए।

सो तुम कपड़े वगैरःको बीच-बीचमें देखती रहना, उसमें कपूर वगैरः डालती रहना। बरतन वगैरः बहुत साफ रखना। पहननेका कपड़ा, बिछौना वगैरः भी साबुनसे साफ करते रहना चाहिए। घरके कोने-कोने और हर चीजके हर हिस्सेकी सफाईपर प्रतिदिन ध्यान रखना। जहाँ ऐसा प्रबन्ध है वहाँ सबका मन लगता है। पति

भी घरपर सदा आना पसंद करता है, नहीं तो कितने ही लोगोंको घर काटता है। वे भागते रहते हैं जिससे उनकी स्त्रियाँ दुःख पाती हैं, पर लाचार पड़ी रहती हैं। पतिका मन लिये रहना बहुत जरूरी है। उन्हें बाहरका काम बहुत रहता है। बहुतसी परेशानियाँ रहती हैं। उनके साथ सहानुभूति रखना, उनके कष्टोंमें सम्मिलित होना, उनको ढाढ़स देते रहना, उनके काममें भाग लेना, उनपर गर्व रखना। तुमको उनके लिये आश्रय बनना होगा। जो चीजें उन्हें पसन्द हैं उनका ध्यान रखना। उनसे सदा प्रेम रखना। यह सब जरूरी है। पति साफ घर, प्रसन्न स्त्री, सुस्वादु भोजन सदा पसंद करता है। तुम यह सब अच्छी तरह खयाल रखना। (सदा) सुसंस्कृतोपस्करया (भाव्यम्)।

(सदा) व्यये चामुक्तहस्तया (भाव्यम्)। दुनियामें खर्चकी तंगी सभीको रहती है। कितना ही रुपया क्यों न हो, कम ही होता है अगर कोई खर्च करना चाहें। इस वास्ते अपनी आमदनीके

भीतर ही खर्च करना चाहिए। मैंने खुद इस मामले में बड़ी गलती की है जिसका मुझे अफसोस है। आशा है, तुम शुरूसे ही खयाल रखोगी। पतिपर बहुत खर्च मत लादना। जितना मिल सके उसीमें गृहस्थी चलाना। दुनियाँमें बहुतसे लोगोंको रुपयों की जरूरत रहती है। यह कहकर ले जाते हैं कि लौटा देंगे पर लौटा नहीं सकते। तुम अपने भर-सक देना ज़रूर, पर यह समझकर देना कि रुपया लौटेगा नहीं। यह समझकर दोगी कि दे दिया तो अपनी औकातके अनुसार होगी और लौटनेकी कोई आशा न रखोगी तो आगे कोई अफसोस भी न होगा। पति यह भी आशा करता है कि स्त्री कुछ पैसा बचावेगी जो आगे काममें आ सकेगा, तुम इसका खयाल रखना। पिताके घरसे पतिके घरपर अधिक अभिमान करना। पतिकी ही आम-दनीके अनुसार अपना खर्च करना और उनकी विश्वासपात्री बनना तथा उन्हें अपना विश्वासपात्र बनाना। कमखर्ची अच्छी चीज़ है। न कंजूसीकी

जरूरत है, न व्यर्थके आडम्बरकी। अपनी आमदनीके अनुसार खर्च करना सदा उचित है। तुम इसका अवश्य खयाल रखना। (सदा) व्यये चामुक्तहस्तया (भाव्यम्)

लिखनेको बहुत था। कागज खतम होगया। जेलमें कागज़ जल्दी नहीं मिलता। चिट्ठी भी काफी बड़ी हो गयी है, सो मैं भी समाप्त करता हूँ। केवल इतना कह देना चाहता हूँ कि इस समय देशभक्तिकी बड़ी पुकार है। अकसर लोगोंने इसका मतलब यह समझ रखा है कि व्याख्यान देते रहनेमें देशभक्ति है। वास्तवमें अपना कर्तव्य छोटा बड़ा जो कुछ हो उसके पालनमें ही सच्ची देशभक्ति है। मेरी समझमें तो देशकी वर्तमान स्थितिमें जो कोई अपनी गृहस्थी और अपने पेशेका काम ठीक तरह चलाता है, ठीक व्यवहार करता है, हर बातमें विश्वसनीय होता है, वही सच्चा देशभक्त है। प्यारी बेटी, तुम सुखी रहो, तुम्हारा मार्ग सरल हो, पति पत्नीमें सदा प्रेम रहे, एक दूसरेमें अपने

को ही देखे, एककी दूसरेमें सब शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो। मेरी यही आशा है, यही अभिलाषा है, यही प्रार्थना है, यही आशीर्वाद है।

तुम्हारा ही सदा प्रेमी

बाबूजी

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः
परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः ॥

मुद्रक-प्रकाशक
माधव विष्णु पराड़कर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी । ८१६८-९६

मूल्य चार आने